धर्मतत्त्व

स्वामी विवेकानन्द

(तृतीय संस्करण)

रामकृष्ण मठ
नागपुर

प्रकाशक—
स्वामी व्योमरूपानन्द
अध्यक्ष, रामकृष्ण मठ,
धन्तोली, नागपुर-४४० ०१२

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प-संख्या ७०

[व ७९ : प्र. ८३]

मूल्य रु. ४.२०

मुद्रक—
श्री. पी. वी. वनसं
संजीव प्रिंटिंग प्रेस,
कर्नलबाग, नागपुर—

प्राक्कथन

'धर्मतत्त्व' पुस्तक का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हमें आनन्द होता है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्दजी के कुछ चुने हुए व्याख्यान एवं प्रवचनों का संग्रह पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया है। धर्म के अन्तिम लक्ष्य आत्मज्ञान में स्वयं प्रतिष्ठित हो स्वामीजी ने जो धर्मसम्बन्धी वक्तृताएँ दीं, वे स्वतःसिद्ध दिव्य आध्यात्मिक अनुभूति पर आधारित थीं और इसीलिए उनके शब्दों का असाधारण महत्त्व है। प्रस्तुत पुस्तक में स्वामीजी ने धर्मतत्त्व की सम्पूर्ण वैज्ञानिक, युक्तियुक्त व्याख्या की है। स्वामीजी का कथन है कि मोक्ष अथवा भगवत्-प्राप्ति ही समस्त धर्मों का एकमात्र अन्तिम ध्येय है तथा विधि-अनुष्ठान, ग्रन्थ, मतमतान्तर आदि धर्म के गौण अंग हैं। अतः केवल इन्हीं में न उलझकर, इनकी सहायता से धर्म के अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचना ही धर्म का सारतत्त्व है। ज्ञान, भक्ति, कर्म और ध्यान—ये इस लक्ष्य तक पहुँचने के विभिन्न उपाय हैं। इन सभी उपायों का विवेचन करते हुए प्रस्तुत पुस्तक में स्वामीजी ने दर्शाया है कि साधक को किन गुणों को आत्मसात् करना अनिवार्य है, साथ ही अत्यन्त युक्तियुक्त शब्दों द्वारा यह भी बतलाया है कि समस्त विभिन्न धर्म उसी एकमात्र ध्येय आत्मज्ञान अथवा ईश्वर-प्राप्ति की ओर ले जाते हैं। यही तथ्य ध्यान में रखते हुए यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म के अनुसार वास्तविक आन्तरिकता से धर्म-साधन करे तो संसार के सभी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक द्वन्द्व मिट जायँगे। पुस्तक के अध्ययन के उपरान्त पाठकगण स्वयं यह देखेंगे कि यथार्थ धर्मतत्त्व को जानकर तदनुसार जीवन को ढालना ही व्यक्ति के अपने निजी जीवन में, साथ ही विश्व मे, शान्ति स्थापित करने का एकमात्र मार्ग है।

पुस्तक में संगृहीत व्याख्यान एवं प्रवचन अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित 'विवेकानन्द-साहित्य' से संकलित किये गये हैं।

नागपुर
१५-११-१९७९

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानंद

धर्मतत्त्व

धर्म की आवश्यकता

(लन्दन में दिया हुआ व्याख्यान)

मानव-जाति के भाग्य-निर्माण में जितनी शक्तियों ने योगदान दिया है और दे रही हैं, उन सब में धर्म के रूप में प्रकट होनेवाली शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण कोई नहीं है। सभी सामाजिक संगठनों के मूल में कहीं न कहीं यह अद्भुत शक्ति काम करती रही है, तथा अब तक मानवता की विविध इकाइयों को संघटित करनेवाली सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा इसी शक्ति से प्राप्त हुई है। हम सभी जानते हैं कि धार्मिक एकता का सम्बन्ध प्रायः जातिगत, जलवायुगत तथा वंशानुगत एकता के सम्बन्धों से भी दृढ़तर सिद्ध होता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि एक ईश्वर को पूजनेवाले तथा एक धर्म में विश्वास करनेवाले लोग जिस दृढ़ता और शक्ति से एक दूसरे का साथ देते हैं, वह एक ही वंश के लोगों की बात ही क्या, भाई भाई में भी देखने को नहीं मिलता। धर्म के प्रादुर्भाव को समझने के लिए अनेक प्रयास किये गये हैं। अब तक हमें जितने प्राचीन धर्मों का ज्ञान है वे सब एक यह दावा करते हैं कि वे सभी अलौकिक हैं, मानो उनका उद्भव मानव-मस्तिष्क से नहीं, बल्कि उस स्रोत से हुआ है, जो उसके बाहर है।

आधुनिक विद्वान् दो सिद्धान्तों के बारे में कुछ अंश तक सहमत हैं। एक है धर्म का आत्मामूलक सिद्धान्त और दूसरा असीम की धारणा का विकासमूलक सिद्धान्त। पहले सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजों की पूजा से ही धार्मिक भावना का विकास हुआ; दूसरे के अनुसार प्राकृतिक शक्तियों को वैयक्तिक स्वरूप देने से धर्म का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य अपने दिवंगत सम्बन्धियों की स्मृति सजीव रखना चाहता है, और सोचता है कि यद्यपि उनके शरीर नष्ट हो चुके, फिर भी वे जीवित हैं। इसी विश्वास पर वह उनके लिए खाद्य पदार्थ रखना तथा एक अर्थ में उनकी पूजा करना चाहता है। मनुष्य की इसी भावना से धर्म का विकास हुआ।

मिस्र, बेबिलोन, चीन तथा अमेरिका आदि के प्राचीन धर्मों के अध्ययन से ऐसे स्पष्ट चिह्नों का पता चलता है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पितर-पूजा से ही धर्म का आविर्भाव हुआ है। प्राचीन मिस्रवासियों की आत्मा-सम्बन्धी धारणा द्वित्वमूलक थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक मानव-शरीर के भीतर एक और जीव रहता है जो शरीर के ही समरूप होता है और मनुष्य के मर जाने पर भी उसका यह प्रतिरूप शरीर जीवित रहता है। किन्तु यह प्रतिरूप शरीर तभी तक जीवित रहता है, जब तक मृत शरीर सुरक्षित रहता है। इसी कारण से हम मिस्रवासियों में मृत शरीर को सुरक्षित रखने की प्रथा पाते हैं और इसी के लिए उन्होंने विशाल पिरामिडों का निर्माण किया, जिसमें मृत शरीर को सुरक्षित ढंग से रखा जा सके। उनकी धारणा थी कि अगर इस शरीर को किसी तरह की क्षति पहुँची, तो उस प्रतिरूप शरीर को ठीक वैसी ही क्षति

पहुँचेगी। यह स्पष्टतः पितर-पूजा है। बेबिलोन के प्राचीन निवासियों में भी प्रतिरूप शरीर की ऐसी ही धारणा देखने को मिलती है, यद्यपि वे कुछ अंश में इससे भिन्न हैं। वे मानते हैं कि प्रतिरूप शरीर में स्नेह का भाव नहीं रह जाता। उसकी प्रेतात्मा भोजन और पेय तथा अन्य सहायताओं के लिए जीवित लोगों को आतंकित करती है। अपने बच्चों तथा पत्नी तक के लिए उसमें कोई प्रेम नहीं रहता। प्राचीन हिन्दुओं में भी इस पितर-पूजा के उदाहरण देखने को मिलते हैं। चीनवालों के सम्बन्ध में भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनके धर्म का आधार पितर-पूजा ही है और यह अब भी समस्त देश के कोने-कोने में परिव्याप्त है। वस्तुतः चीन में यदि कोई धर्म प्रचलित माना जा सकता है, तो वह केवल यही है। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म को पितर-पूजा से विकसित माननेवालों का आधार काफी सुदृढ़ है।

किन्तु कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं, जो प्राचीन आर्य-साहित्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि धर्म का आविर्भाव प्रकृति की पूजा से हुआ। यद्यपि भारत में पितर-पूजा के उदाहरण सर्वत्र ही देखने को मिलते हैं, तथापि प्राचीन ग्रन्थों में इसकी किंचित् चर्चा भी नहीं मिलती। आर्य जाति के सब से प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद संहिता में इसका कोई उल्लेख नहीं है। आधुनिक विद्वान् उसमें प्रकृति-पूजा के ही चिह्न पाते हैं। जो प्रस्तुत दृश्य के परे है, उसकी एक झाँकी पाने के लिए मानव-मस्तिष्क आकुल प्रतीत होता है। उषा, सन्ध्या, चक्रवात, प्रकृति की विशाल और विराट् शक्तियाँ, उसका सौन्दर्य—इन सब ने मानव-मस्तिष्क के ऊपर ऐसा प्रभाव डाला कि वह इन सब के परे जाने की, और उनको

समझ सकने की आकांक्षा करने लगा। इस प्रयास में मनुष्य ने इन दृश्यों में आत्मा तथा शरीर की प्रतिष्ठा की, उन्होंने उनमें वैयक्तिक गुणों का आरोपण करना शुरू किया, जो कभी सुन्दर और कभी इन्द्रियातीत होते थे। उनको समझने के हर प्रयास में उन्हें व्यक्तिरूप दिया गया, या नहीं दिया गया, किन्तु उनका अन्त उनको अमूर्त कर देने में ही हुआ। ठीक ऐसी ही बात प्राचीन यूनानियों के सम्बन्ध में भी हुई, उनके तो सम्पूर्ण पुराणोपाख्यान अमूर्त प्रकृति-पूजा ही हैं। और ऐसा ही प्राचीन जर्मनी तथा स्कैण्डिनेविया के निवासियों एवं शेष सभी आर्य जातियों के बारे में भी कहा जा सकता है। इस तरह प्रकृति की शक्तियों का मानवीकरण करने में धर्म का आदि स्रोत माननेवालों का भी पक्ष काफी प्रबल हो जाता है।

यद्यपि ये दोनों सिद्धान्त परस्परविरोधी लगते हैं, किन्तु उनका समन्वय एक तीसरे आधार पर किया जा सकता है, जो मेरी समझ में धर्म का वास्तविक बीज है और जिसे मैं 'इन्द्रियों का सीमा का अतिक्रमण करने के लिए संघर्ष' मानता हूँ। एक ओर मनुष्य अपने पितरों की आत्माओं की खोज करता है, मृतकों की प्रेतात्माओं को ढूँढ़ता है, अर्थात् शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी वह जानना चाहता है कि उसके बाद क्या होता है। दूसरी ओर मनुष्य प्रकृति की विशाल दृश्यावली के पीछे काम करनेवाली शक्ति को समझना चाहता है। इन दोनों ही स्थितियों में इतना तो निश्चित है कि मनुष्य इन्द्रियों की सीमा के बाहर जाना चाहता है। वह इन्द्रियों से ही सन्तुष्ट नहीं है, वह इनसे परे भी जाना चाहता है। इस व्याख्या को रहस्यात्मक रूप देने की आवश्यकता नहीं। मुझे यह तो बिलकुल स्वाभाविक लगता है कि

धर्म की पहली झाँकी स्वप्न में मिली होगी। मनुष्य अमरता की कल्पना स्वप्न के आधार पर कर सकता है। कैसी अद्‌भुत है स्वप्न की अवस्था! हम जानते हैं कि बच्चे तथा कोरे मस्तिष्क-वाले स्वप्न और जाग्रत् स्थिति में कोई भेद नहीं कर पाते। उनके लिए साधारण तर्क के रूप में इससे अधिक और क्या स्वाभाविक हो सकता है कि स्वप्नावस्था में भी जब शरीर प्रायः मृत-सा हो जाता है तब भी मन के सारे जटिल क्रियाकलाप चलते रहते हैं! अतः इसमें क्या आश्चर्य, यदि मनुष्य हठात् यह निष्कर्ष निकाल ले कि इस शरीर के विनष्ट हो जाने पर इसकी क्रियाएँ जारी रहेंगी? मेरे विचार से अलौकिकता की इससे अधिक स्वाभाविक व्याख्या और कोई नहीं हो सकती, और स्वप्न पर आधारित इस धारणा को क्रमशः विकसित करता हुआ मनुष्य ऊँचे से ऊँचे विचारों तक पहुँच सका होगा। हाँ, यह भी अवश्य ही सत्य है कि समय पाकर अधिकांश लोगों ने यह अनुभव किया कि ये स्वप्न हमारी जागृतावस्था से सत्य सिद्ध नहीं होते और स्वप्नावस्था में मनुष्य का कोई नया अस्तित्व नहीं हो जाता, बल्कि वह जागृतावस्था के अनुभवों का ही स्मरण करता है।

किन्तु तब तक इस दिशा में अन्वेषण आरम्भ हो गया था, और अन्वेषण की धारा अन्तर्मुखी हो गयी और मनुष्य ने अपने ही अन्दर अधिक गम्भीरता से मन की विभिन्न अवस्थाओं का अन्वेषण करते-करते जागृतावस्था और स्वप्नावस्था से भी परे कई उच्च अवस्थाओं का आविष्कार किया। संसार के सभी संघटित धर्मों में इन अवस्थाओं की चर्चा परमानन्द या 'अन्तःस्फुरण' के रूप में मिलती है। सभी संघटित धर्मों में ऐसा माना जाता है

कि उनके संस्थापक पैगम्बरों एवं सन्देशवाहकों ने मन की इ
अवस्थाओं में प्रवेश किया था, और इनमें उन्हें एक ऐसी नवीन
तथ्यमाला का साक्षात्कार हुआ, जो आध्यात्मिक जगत् से सम्बद्ध
है। उन अवस्थाओं में उन महापुरुषों को जो अनुभव हुए, वे
हमारे जागृतावस्था के अनुभवों से कहीं अधिक ठोस साबित हुए।
उदाहरण के लिए तुम ब्राह्मण धर्म को लो। ऐसा कहा जाता है
कि वेद ऋषियों द्वारा रचित हैं। ये ऋषि ऐसे सन्त थे, जिन्हें
विशिष्ट तथ्यों का अनुभव हुआ था। संस्कृत शब्द 'ऋषि' की
ठीक परिभाषा है--मन्त्रों का द्रष्टा। ये मन्त्र वेदों की ऋचाओं
के भाव हैं। इन ऋषियों ने यह घोषित किया कि उन्होंने कुछ
विशिष्ट तथ्यों का साक्षात्कार--अनुभव किया है--अगर
'अनुभव' शब्द को इन्द्रियातीत विषय में प्रयोग करना ठीक है
तो--और तब उन्होंने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध किया। हम
देखते हैं कि यहूदियों और ईसाइयों में भी इसी सत्य का उद्घोष
हुआ था।

दक्षिण सम्प्रदाय के प्रतिनिधि बौद्धों का जहाँ तक प्रश्न है,
इस सिद्धान्त को अपवाद रूप में लिया जा सकता है। यह पूछा
जा सकता है कि यदि बौद्ध लोग ईश्वर या आत्मा में विश्वास
नहीं करते, तो यह कैसे माना जा सकता है कि उनका धर्म भी
किसी अतीन्द्रिय स्तर पर आधारित है? इसका उत्तर यह है
कि बौद्ध लोग भी एक शाश्वत नैतिक नियम--धर्म--में विश्वास
करते हैं और उस धर्म का ज्ञान सामान्य तर्कों के आधार पर
नहीं हुआ था, वरन् बुद्ध ने अतीन्द्रियावस्था में इसका आविष्कार
किया था। तुम लोगों में से जिन्होंने बुद्ध के जीवन-चरित्र का
अध्ययन किया है, चाहे वह 'एशिया की ज्योति' (Light of

Asia) जैसी ललित कविता के माध्यम से संक्षिप्त रूप में ही क्यों न हो--उन्हें याद होगा कि बुद्ध का अश्वत्थ वृक्ष के तले बैठा हुआ दिखाया गया है, जहाँ उन्हें निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति हुई है। उनके सारे उपदेश इस अवस्था से ही प्रादुर्भूत हुए, न कि बौद्धिक चिन्तन से।

इस प्रकार सभी धर्मों ने यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि मनुष्य का मन कतिपय क्षणों में इन्द्रियों की सीमाओं के ही नहीं, बुद्धि की शक्ति के भी परे पहुँच जाता है। उस अवस्था में वह उन तथ्यों का साक्षात्कार करता है, जिनका ज्ञान न कभी इन्द्रियों से हो सकता था और न चिन्तन से ही। ये तथ्य ही संसार के सभी धर्मों के आधार हैं। निश्चय ही हमें इन तथ्यों में सन्देह करने और उन्हें बुद्धि की कसौटी पर कसने का अधिकार है। पर संसार के सभी वर्तमान धर्मों का दावा है कि मन को ऐसी कुछ अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हैं, जिनसे वह इन्द्रिय तथा बौद्धिक अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है। और उसकी इस शक्ति को वे तथ्य के रूप में मानते हैं।

धर्मों के इन तथ्यों से सम्बन्धित दावों की सत्यता पर विचार करने के अतिरिक्त हमें इन सारे तथ्यों में एक समानता मिलती है। ये सभी तथ्य अमूर्त हैं, भौतिक शास्त्र के आविष्कारों की तरह मूर्त नहीं। सभी प्रतिष्ठित धर्मों में वे शुद्धतम ऐकिक भावों का रूप ले लेते हैं; यह रूप या तो एक सर्वव्यापी सत्ता, ईश्वर कहा जानेवाला, अमूर्त व्यक्तित्व, अथवा नैतिक विधान के रूप में एक अमूर्त सत् होता है, या समस्त भूतों में अन्तर्व्याप्त किसी अमूर्त सार तत्त्व का रूप। आधुनिक युग में भी जब मन की अतीन्द्रियावस्था की सहायता लिये बिना ही, धर्मोपदेश देने का

प्रयास किया गया, तो उसमें भी पुराने धर्मों के अमूर्त भावों की ही सहायता ली गयी, भले ही उनको 'नैतिक विधान' (moral law), 'आदर्श एकता' (ideal unity) आदि का नाम दे दिया गया हो, जिससे सिद्ध होता है कि यह अमूर्त भाव इन्द्रियों के क्षेत्र में नहीं है। हममें से किसी ने कभी 'आदर्श मानव' (ideal human being) को देखा नहीं है, फिर भी हम से कहा जाता है कि उसकी सत्ता में विश्वास करो। हममें से किसी ने पूर्ण मानव को देखा नहीं, फिर भी उस आदर्श में विश्वास किये बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। इस तरह इन सभी धर्मों का मन्तव्य यह है कि 'आदर्श ऐकिक अमूर्त' है, जो हमारे सम्मुख सगुण अथवा [illegible] सत्ता, किसी विधान या सत् या सार-तत्त्व के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, हम सतत उस आदर्श तक अपने को उठाने का प्रयास कर रहे हैं। प्रत्येक मनुष्य के सामने, वह जो भी हो, जहाँ भी हो, एक अपरिमित शक्तिवाला आदर्श रहता है। प्रत्येक मनुष्य के सामने सुख का प्रतीक कोई आदर्श रहता है। हमारे चारों ओर जो अनेकानेक कार्य हो रहे हैं, उनमें से अधिकांश अपरिमित शक्ति अथवा अपरिमित आनन्द के आदर्श के निमित्त ही किये जा रहे हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें शीघ्र ही यह पता चल जाता है कि असीम शक्ति के निमित्त ये संघर्ष तो वे कर रहे हैं, किन्तु उसको इन्द्रियों के द्वारा कोई नहीं प्राप्त कर सकता। दूसरे शब्दों में, उन्हें इन्द्रियों की सीमाओं का ज्ञान हो जाता है। वे समझ जाते हैं कि ससीम शरीर से असीम की प्राप्ति नहीं हो सकती है। सीमित माध्यम में असीम की अभिव्यक्ति असम्भव है, और देर-सबेर मनुष्य को इस सत्य का ज्ञान हो ही जाता है और तब वह अपनी सीमाओं के भीतर

असीम को पाने का प्रयास त्याग देता है। प्रयास का यह परित्याग ही नैतिकता की भूमिका है। त्याग पर ही नैतिकता आधारित है। त्याग को आधारशिला माने बिना कभी किसी नैतिक विधान की रचना ही नहीं हो सकी।

नीतिशास्त्र सदा कहता है—'मैं नहीं, तू।' इसका उद्देश्य है—'स्व नहीं, निः-स्व'। इसका कहना है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनन्द को प्राप्त करने के क्रम में मनुष्य जिस निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपटा रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुमको दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है—'अपने को सब से अन्त में रखो।' इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। वह जो असीम है, उसकी अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती, ऐसा असम्भव है, अकल्पनीय है।

इसलिए मनुष्य को 'असीम' गहन अभिव्यक्ति की प्राप्ति के लिए भौतिक स्तर को छोड़कर क्रमशः ऊपर अन्य स्तरों में जाना है। इस प्रकार विविध नैतिक नियमों की संरचना होती है, किन्तु सभी के केन्द्र में अहन्ता का उच्छेदन ही है। अहन्ता का पूर्ण उच्छेदन ही नीतिशास्त्र का आदर्श है। लोग आश्चर्यचकित रह जाते, यदि उनसे अहन्ता (व्यक्तित्व) की चिन्ता न करने के लिए कहा जाता। जिसे वे अपना व्यक्तित्व कहते हैं, उसके विनष्ट होने के प्रति अत्यन्त भयभीत से हो जाते हैं। पर साथ ही ऐसे ही लोग नीतिशास्त्र के उच्चतम आदर्शों को सत्य घोषित करते हैं। वे क्षण भर के लिए भी यह नहीं सोचते कि नैतिकता

का समग्र क्षेत्र, ध्येय और विषय व्यक्ति का उच्छेदन है न कि उसका निर्माण।

उपयोगितावाद मनुष्य के नैतिक सम्बन्धों की व्याख्या नहीं कर सकता; क्योंकि पहली बात तो यह है कि उपयोगिता के आधार पर हम किसी भी नैतिक नियम पर नहीं पहुँच सकते। कोई भी नीतिशास्त्र तब तक नहीं टिक सकता, जब तक उसके नियमों का आधार अलौकिकता न हो, या जैसा मैं कहना अधिक ठीक समझता हूँ——जब तक उसके नियम अतीन्द्रिय ज्ञान पर आधारित न हो। असीम के प्रति संघर्ष के बिना कोई आदर्श नहीं हो सकता। ऐसा कोई भी सिद्धान्त नैतिक नियमों की व्याख्या नहीं कर सकता, जो मनुष्य को सामाजिक स्तर तक ही सीमित रखना चाहता हो। उपयोगितावादी हमसे 'असीम'—— अतीन्द्रिय गन्तव्य स्थल——के प्रति संघर्ष का त्याग चाहते हैं, क्योंकि अतीन्द्रियता अव्यावहारिक है, निरर्थक है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि नैतिक नियमों का पालन करो, समाज का कल्याण करो। आखिर हम क्यों किसी का कल्याण करें? भलाई करने की बात तो गौण है, प्रधान तो है——एक आदर्श। नीतिशास्त्र स्वयं साध्य नहीं है, प्रत्युत साध्य को पाने का साधन है। यदि उद्देश्य नहीं है, तो हम क्यों नैतिक बनें? हम क्यों दूसरों की भलाई करें? क्यों हम लोगों को सतायें नहीं? अगर आनन्द ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, तो क्यों न मैं दूसरों को कष्ट पहुँचाकर भी स्वयं सुखी रहूँ? ऐसा करने से मुझे रोकता कौन है? दूसरी बात यह है कि उपयोगिता का आधार अत्यन्त संकीर्ण है। सारे प्रचलित, सामाजिक नियमों की रचना तो, समाज की तात्कालिक स्थिति को दृष्टि में रखकर की गयी

है। किन्तु उपयोगितावादियों को यह सोचने का क्या अधिकार है कि यह समाज शाश्वत है ? कभी ऐसा भ' समय था,' जब समाज नहीं था, और ऐसा भी समय आयेगा, जब यह नहीं रहेगा। यह तो शायद मनुष्य की प्रगति के क्रम में एक ऐसा स्थल है, जिससे होकर उसे विकास के उच्चतर स्तरों तक जाना है। और इस तरह कोई भी नियम जो मात्र समाज पर आधारित है शाश्वत नहीं हो सकता, मानव-प्रकृति को पूर्णरूपेण आच्छादित नहीं कर सकता। अधिक से अधिक यह उपयोगितावादी नियम समाज की वर्तमान स्थिति में काम कर सकता है। इसके आगे इसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। किन्तु धर्म तथा आध्यात्मिकता पर आधारित नीतिशास्त्र का क्षेत्र असीम मनुष्य है वह व्यक्ति को लेता है, पर उसके सम्बन्ध असीम हैं। वह समाज को भी लेता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह का ही नाम है; इसलिए जिस प्रकार यह नियम व्यक्ति और उसके शाश्वत सम्बन्धों पर लागू होता है, ठीक उसी प्रकार समाज पर भी लागू होता है—समाज की स्थिति या दशा किसी समयविशेष में जो भी हो। इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य को सदैव आध्यात्मिक धर्म की आवश्यकता पड़ती रहेगी। वह हमेशा भौतिक जगत् में ही लिप्त नहीं रह सकता—वह उसे कितना भी आनन्ददायक क्यों न लगे।

ऐसा कहा जाता है कि अधिक आध्यात्मिक होने पर सांसारिक व्यवहारों में कठिनाइयाँ हो सकती हैं। कन्फ्यूशस के युग में ही कहा गया था कि 'पहले हम इस संसार की चिन्ता करें और जब इससे छुट्टी मिले, तो दूसरे लोकों की चर्चा करें।' इस लोक की चिन्ता करना बड़ा अच्छा है। पर अगर अधिक आध्यात्मिकता

हमारे लोकाचार में थोड़ी गड़बड़ी होती है, तो सांसारिकता ‹
अत्यधिक ध्यान देने से तो इहलोक और परलोक दोनों बिग
जायँगे। सांसारिकता हमें पूर्णतः भौतिकवादी बनाकर छोड़ेगी
मनुष्य का उद्देश्य 'प्रकृति' नहीं है—वरन् कुछ उससे ऊप
की वस्तु है।

'मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है, जब तक व
प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है।' और यह प्रकृति
बाह्य और आन्तरिक दोनों है। इस प्रकृति के भीतर केवल वे ही
नियम नहीं हैं, जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के
परमाणु नियन्त्रित होते हैं, वरन् ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं, जो वस्तुत
बाह्य प्रकृति को संचालित करनेवाली अन्तःस्थ प्रकृति का नियमन
करते हैं। 'बाह्य प्रकृति को जीत लेना कितना अच्छा है, कितना
भव्य है। पर उससे असंख्य गुना अच्छा और भव्य है अभ्यन्तर
प्रकृति पर विजय पाना। ग्रहों और नक्षत्रों का नियन्त्रण करने-
वाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है; परन्तु
उससे अनन्त गुना अच्छा और भव्य है, उन नियमों को जानना,
जिनसे मनुष्य के मनोवेग, भावनाएँ और इच्छाएँ नियन्त्रित होती
हैं। इस आन्तरिक मनुष्य पर विजय पाना, मानव-मन की जटिल
सूक्ष्म क्रियाओं के रहस्य को समझना, पूर्णतया धर्म के अन्तर्गत
आता है। मनुष्य का स्वभाव—साधारण मनुष्य-स्वभाव—है कि
वह बृहत् भौतिक तथ्यों का अवलोकन करना चाहता है। साधारण
मनुष्य किसी सूक्ष्म वस्तु को नहीं समझ सकता। ठीक ही कहा
गया है कि संसार तो उस सिंह का आदर करता है, जो हजारों
मेमनों का वध करता है। लोगों को यह समझने का अवकाश
कहाँ है कि सिंह की इस क्षणिक विजय का अर्थ है—हजारों

मेमनों की मृत्यु ! इसका कारण यह है कि मनुष्य शारीरिक शक्ति की अभिव्यक्ति से प्रसन्न होता है। मानव-जाति का यही सामान्य स्वभाव है। बाह्य वस्तुओं को ही लोग समझ सकते हैं, इन्हीं में आनन्द ही मिलता है। पर हर समाज में कुछ ऐसे लोग मिलते हैं, जिन्हें इन्द्रियविषयक वस्तुओं में कोई आनन्द नहीं मिलता। वे इनसे ऊपर उठना चाहते हैं और यदा-कदा सूक्ष्मतर तत्त्वों की झाँकी पाकर उन्हें ही पाने के लिए सदा संघर्षरत रहते हैं। और जब हम विश्व-इतिहास का मनन करते हैं, तो पाते हैं कि जब-जब किसी राष्ट्र में ऐसे लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है, तब-तब किसी राष्ट्र का अभ्युदय हुआ है; तथा जब भूमा या असीम--उसे उपयोगितावादी जो भी कहें--की खोज समाप्त हो जाती है, तो उस राष्ट्र का पतन होने लगता है। तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिकता ही किसी भी जाति की शक्ति का प्रधान स्रोत है। जिस दिन से इसका ह्रास और भौतिकता का उत्थान होने लगता है, उसी दिन से राष्ट्र की मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है।

इस तरह धर्म से ठोस सत्यों और तथ्यों को पाने के अतिरिक्त, उससे मिलनेवाली सान्त्वना के अतिरिक्त, एक विशुद्ध विज्ञान और एक अध्ययन के रूप में वह मानव-मस्तिष्क के लिए सर्वोत्कृष्ट और स्वस्थतम व्यायाम है। असीम की खोज करना, असीम को पाने के लिए संघर्ष करना, इन्द्रियों--मानो भौतिक द्रव्यों--की सीमाओं से परे जाकर एक आध्यात्मिक मानव के रूप में विकसित होना--इन सारी चीजों के लिए दिन-रात जो संघर्ष किया जाता है, वह अपने आप में ही मनुष्य के सभी संघर्षों में उदात्ततम और परम गौरवशाली है। कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें भोजन में ही परम सुख मिलता है। हमें कोई अधिकार

नहीं कि हम उन्हें वैसा करने से मना करें। फिर कुछ ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिन्हें विशिष्ट वस्तुओं के स्वामित्व में आन मिलता है। और हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम कहें उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए। पर किसी को आध्यात्मिक चिन्त में ही परमानन्द मिलता है, तो उसे मना करने का भी किस को कोई अधिकार नहीं है। जो प्राणी जितना ही निम्न स्तर क होगा, उसे इन्द्रियजनित सुखों में उतना ही आनन्द मिलेगा बहुत कम मनुष्य ऐसे मिलेंगे, जिन्हें भोजन करते समय वैसा ह उल्लास होता है, जैसा किसी कुत्ते या भेड़िये को। किन्तु याद रहे कि कुत्ते और भेड़िये के सारे सुख इन्द्रियों तक ही सीमित हैं। निम्न कोटि के मनुष्यों को इन्द्रियजनित सुखों में ही आनन्द मिलता है। किन्तु जो लोग सुसंस्कृत एवं सुशिक्षित हैं, उन्हें चिन्तन, दर्शन, कला और विज्ञान में आनन्द मिलता है। आध्यात्मिकता उससे भी उच्चतर स्तर की है। विषय के असीम होने के कारण वह स्तर उच्चतम है, और जो इसे हृदयंगम कर सकते हैं, उनके लिए उस स्तर का आनन्द सर्वोत्तम है। इसलिए अगर शुद्ध उपयोगितावादी दृष्टिकोण से भी आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य का उद्देश्य है, तो भी धार्मिक चिन्तन का अनुशीलन करना चाहिए, क्योंकि वही परमानन्द है—जिसका अस्तित्व है। इस तरह मुझे तो ऐसा लगता है कि एक अध्ययन के रूप में भी धर्म अत्यन्त आवश्यक है।

अब हम इसके परिणामों पर विचार करें। मानव-मस्तिष्क के लिए यह सब से बड़ी प्रेरक शक्ति है। जितनी शक्ति हममें आध्यात्मिक आदर्शों पर चलने से आती है, उतनी और किसी से नहीं। जहाँ तक मानव-इतिहास का प्रश्न है, हम लोगों के लिए

सुस्पष्ट है कि यह सत्य पुष्ट रहा है और इसकी शक्तियाँ मृत नहीं हैं। मैं यह नहीं कहता कि केवल उपयोगितावादी आधार पर मनुष्य नैतिक और अच्छा नहीं हो सकता। केवल उपयोगिता के स्तर पर भी पूर्णतया स्वस्थ, नैतिक और अच्छे महान् पुरुष इस संसार में हुए हैं। किन्तु वैसे संसार को हिला देनेवाले लोग सदा आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि से ही आविर्भूत होते हैं, जो मानो विश्व में एक महान् चुम्बकीय आकर्षण ला देते हैं, जिनकी आत्मा सैकड़ों और हजारों में कार्यशील है, जिनका जीवन आध्यात्मिक अग्नि से दूसरों को प्रज्वलित कर देता है। उनकी प्रेरक शक्ति का स्रोत सदा ही धर्म रहा है। जो असीम शक्ति प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव तथा जन्मसिद्ध अधिकार है, उसके साक्षात् के लिए धर्म सर्वश्रेष्ठ प्रेरक शक्ति है। चरित्र-निर्माण, शिव और महत् की प्राप्ति, स्वयं तथा विश्व की शान्ति की प्राप्ति के लिए धर्म ही सर्वोपरि प्रेरक शक्ति है। अतः उसका अध्ययन इस दृष्टि से भी होना चाहिए। धर्म का अध्ययन अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक आधार पर होना चाहिए। धर्म-सम्बन्धी सभी संकीर्ण, सीमित, विवादास्पद धारणाओं को नष्ट होना चाहिए। सम्प्रदाय, जाति या राष्ट्र की भावना पर आधारित सारे धर्मों का परित्याग करना होगा। हर जाति या राष्ट्र का अपना-अपना अलग ईश्वर मानना और दूसरों को भ्रान्त कहना, एक अन्धविश्वास है, उसे अतीत की वस्तु हो जाना चाहिए। ऐसे सारे विचारों से मुक्ति पाना होगा।

जैसे-जैसे मानव-मस्तिष्क का विकास होता है, वैसे-वैसे आध्यात्मिक सोपान भी उदार होते जाते हैं। वह समय तो आ ही गया है, जब कोई व्यक्ति पृथ्वी के किसी कोने में कोई बात

कहे और सारे विश्व में वह गूँज उठे। मात्र भौतिक साधनों से हमने सम्पूर्ण जगत् को एक बना डाला है। इसलिए स्वभावतः ही आनेवाले धर्म को विश्वव्यापी होना पड़ेगा।

भविष्य के धार्मिक आदर्शों को सम्पूर्ण धर्मों में जो कुछ भी सुन्दर और महत्त्वपूर्ण है, उन सबों को समेटकर चलना पड़ेगा और साथ ही भावविकास के लिए अनन्त क्षेत्र प्रदान करना होगा। अतीत में जा कुछ भी सुन्दर रहा है, उसे जीवित रखना होगा, साथ ही वर्तमान के भण्डार को और भी समृद्ध बनाने के लिए भविष्य का विकासद्वार भी खुला रखना होगा। धर्म को ग्रहणशील होना चाहिए, और ईश्वर-सम्बन्धी अपने आदर्शों में भिन्नता के कारण एक दूसरे का तिरस्कार नहीं करना चाहिए। मैंने अपने जीवन में ऐसे अनेक महापुरुषों को देखा है, जो ईश्वर में एकदम विश्वास नहीं करते थे, अर्थात् हमारे और तुम्हारे ईश्वर में। किन्तु वे लोग ईश्वर को हमारी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी सभी सिद्धान्त सगुण, निर्गुण, अनन्त, नैतिक नियम अथवा आदर्श मानव-धर्म की परिभाषा को समा लेनेवाले चाहिए। और जब धर्म इतने उदार बन जायँगे, तब उनकी कल्याणकारिणी शक्ति शतगुणी अधिक हो जायगी। धर्मों में अद्भुत शक्ति है; पर इनकी संकीर्णताओं के कारण इनसे कल्याण की अपेक्षा अधिक हानि ही हुई है।

यहाँ तक कि आज भी हम बहुत से सम्प्रदाय और समाज पाते हैं, जो प्रायः समान आदर्श के अनुगामी होते हुए भी परस्पर लड़ रहे हैं। इसका कारण यह है कि एक समुदाय आदर्शों को दूसरे के समान हूबहू प्रतिपादित नहीं करना चाहता। अतः धर्म के उदार होने की नितान्त आवश्यकता है। धार्मिक विचारों को

विस्तृत, विश्वव्यापक और असीम होना ही पड़ेगा, और तभी हम धर्म का पूर्ण रूप प्राप्त करेंगे, क्योंकि धर्म की शक्तियों की वास्तविक अभिव्यक्ति तो बस अब शुरू हुई है। लोग कहते हैं--धर्म मर रहा है, आध्यात्मिकता का ह्रास हो रहा है; पर मुझे तो लगता है कि अभी-अभी ये पनपने लगे हैं। एक सुसंस्कृत एवं उदार धर्म की शक्ति अभी ही तो सम्पूर्ण मानव-जीवन में प्रवेश करने जा रही है। जब तक धर्म कुछ इने-गिने पण्डे-पादरियों के हाथों में रहा, तब तक इसका दायरा मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर और धर्मग्रन्थों तथा धार्मिक नियमों, अनुष्ठानों और बाह्याचारों तक सीमित रहा। पर जब हम सचमुच आध्यात्मिक और विश्वव्यापक धरातल पर आ जायेंगे, तब धर्म यथार्थ हो उठगा सजीव हो उठेगा, हमारे जीवन का अंग बन जायगा, हमारी हर गति में रहेगा, समाज की पोर-पोर में भिद जायगा, और तब इसकी शिवात्मक शक्ति पहले कभी भी की अपेक्षा अनन्त गुनी अधिक हो जायगी।

आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी तरह के धर्म परस्पर बन्धुत्व का भाव रखें, क्योंकि अगर उन्हें जीना है, तो साथ-साथ और मरना है, तो साथ-साथ। बन्धुत्व की यह भावना पारस्परिक स्नेह और आदर पर आधारित होनी चाहिए, न कि संरक्षणशील, प्रसादस्वरूप किंचित् शुभेच्छा की कृपण अभिव्यक्ति पर, जिसे आज एक धर्म अनुग्रह भाव से दूसरे पर दर्शाते हुए पाया जाता है। एक ओर हैं, मानसिक व्यापारों की अध्ययनजन्य धार्मिक अभिव्यक्तियाँ, जो अभाग्यवश आज भी धर्म पर एकाधिकार का पूरा दावा रखती हैं --और दूसरी ओर हैं धर्म की वे

अभिव्यक्तियाँ, जिनके मस्तिष्क तो स्वर्ग के रहस्यों में अधिक व्यस्त हैं, किन्तु जिनके चरण पृथ्वी से ही चिपके हैं—मेरा तात्पर्य है तथाकथित भौतिक विज्ञानों से। अब इन दोनों के मध्य इस बन्धुत्व की भावना की सर्वोपरि आवश्यकता है।

इस सामंजस्य को लाने के लिए दोनों को ही आदान-प्रदान करना होगा, त्याग करना पड़ेगा, यही नहीं, कुछ दुःखद बातों को भी सहन करना पड़ेगा। पर इस त्याग के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति और भी निखर उठेगा और सत्य के सन्धान में अपने को और भी आगे पायेगा। अन्त में देश-काल की सीमाओं में बद्ध ज्ञान का महामिलन उस ज्ञान से होगा, जो इन दोनों से परे है, जो मन तथा इन्द्रियों की पहुँच से परे है—जो निरपेक्ष है, असीम है, अद्वितीय है।

धर्म के दावे

(रविवार, ५ जनवरी)

तुममें से अधिकांश को यह स्मरण है कि बचपन में उदीयमान सूर्य के भव्य सौन्दर्य को देखकर तुम्हारा मन किस तरह आनन्द से थिरक उठता था; वैसे ही तुम सब अपने जीवन में अस्तमित सूर्य की महिमा को देखकर स्तम्भित रह जाते हो और कल्पना में ही सही, असीम को भेदने का प्रयत्न करते हो। वस्तुत: अखिल विश्व के मूल में यही भावना है—असीम से आविर्भूत होना और फिर असीम में ही विलीन हो जाना। यह सारा विश्व अज्ञात से निकलकर अज्ञात में ही समाहित हो जाता है। घुटने के बल चलनेवाले शिशु की तरह यह एक रहस्यमय अन्धकार से आविर्भूत होता है और फिर घिसटते हुए वृद्ध की भाँति रहस्यमय अन्धकार में ही विलीन हो जाता है।

हमारा यह संसार—इन्द्रियों, बुद्धि और युक्ति का संसार—दोनों ही ओर अनन्त, अज्ञेय और अज्ञात से परिसीमित है। यह अनन्तता ही हमारी खोज है, इसी में अनुसन्धान के विषय हैं; इसी में तथ्य हैं; और उसी से प्राप्त होनेवाले प्रकाश को संसार धर्म कहता है। इस तरह धर्म वस्तुत: इन्द्रियातीत भूमिका की वस्तु है, ऐन्द्रिक भूमिका की नहीं। वह समस्त तर्क के परे है, बुद्धि के स्तर की नहीं। यह एक अलौकिक दिव्य दर्शन है, एक अन्त:प्रेरणा है; यह मानो अज्ञात और अज्ञेय के उदधि में डुबकी लगाना है, जिसमे ज्ञानातीत ज्ञात से अधिक ज्ञात हो जाता है,

क्योंकि वह कभी 'जाना' नहीं जा सकता। जैसा कि मेरा वि
है, यह खोज मानवता के आदि काल से ही जारी है। वि
इतिहास में ऐसा समय कभी नहीं हुआ, जब मनुष्य की
इस संघर्ष, अनन्त की इस खोज में व्यस्त न रही हो। ह
मन का जो नन्हा सा संसार है, उसमें हम विचारों को
हुए पाते हैं। ये विचार कहाँ से आते हैं और कहाँ चले जाते
हम नहीं कह सकते। और बृहत् ब्रह्माण्ड और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड
ही लोक में हैं, उन्हीं अवस्थाओं को पार करते हैं, वही स
स्पन्दित करते हैं।

अब तुम्हारे समक्ष हम हिन्दुओं के इस सिद्धान्त को रख
हैं कि धर्म कहीं बाहर से नहीं आता, बल्कि व्यक्ति के अभ्यन्त
से ही उदित होता है। मेरी यह आस्था है कि धार्मिक विचा
मनुष्य की रचना में ही सन्निहित हैं, और यह बात इस सीम
तक सत्य है कि चाहकर भी मनुष्य धर्म का त्याग तब तक नह
कर सकता, जब तक उसका शरीर है, मन है, मस्तिष्क है, जीवन
है। जब तक मनुष्य में सोचने की शक्ति रहेगी, तब तक यह
संघर्ष चलता ही रहेगा और तब तक किसी न किसी रूप में धर्म
रहेगा ही। इस तरह विश्व में हमें धर्म के विभिन्न रूप मिलते
हैं। बात कुछ विकट जरूर लगती है; पर ऐसा नहीं कहा जा
सकता, जैसा कुछ लोग कहते हैं कि यह सब निरर्थक परिकल्पना
है। इस विस्वरता के मध्य एक समस्वरता भी है; इन समस्त
बेसुरी ध्वनियों में समसुरता का भी एक स्वर है, और जो सुनना
चाहे, वह उसे सुन सकता है।

वर्तमान काल में सब से बड़ा प्रश्न है: अगर ज्ञात और ज्ञेय
जगत् का आदि और अन्त अज्ञात तथा अनन्त अज्ञेय द्वारा सीमा-

बद्ध है, तो उस अज्ञात के लिए हम प्रयास ही क्यों करें ? क्यों न हम ज्ञात जगत् में ही सन्तुष्ट रहें ? क्यों न हम खाने, पीने और संसार की किंचित् भलाई करने में ही सन्तुष्ट रहें ? ये प्रश्न अक्सर सुनने को मिलते हैं। विद्वान् प्राध्यापक से लेकर तुतलाते बच्चे तक से कहा जाता है, "संसार की भलाई करो; यही सारा धर्म है; इसके परे क्या है, इससे सम्बन्धित प्रश्नों से व्यर्थ अपने को परेशान मत करो।" यह बात इतनी चल पड़ी है कि उसने एक कहावत का रूप ले लिया है।

किन्तु सौभाग्यवश हम अनन्त के बारे में जिज्ञासा किये बिना नहीं रह सकते। यह जो वर्तमान है, व्यक्त है, वह तो अव्यक्त का एक अंश मात्र है। इन्द्रियों की चेतना के धरातल पर जो अनन्त आध्यात्मिक जगत् प्रक्षेपित है, यह इन्द्रियजगत् उसका एक नन्हा सा अंश है। ऐसी स्थिति में उस अनन्त विस्तार को समझे बिना यह नन्हा सा प्रक्षेपित भाग कैसे समझा जा सकता है ? साक्रेटिस के बारे में ऐसे कहा जाता है कि एक बार एथेन्स में भाषण करते समय उससे एक ब्राह्मण की मुलाकात हुई। वह ब्राह्मण यूनान की सैर कर चुका था। साक्रेटिस ने उससे कहा कि मनुष्य के अध्ययन का सब से महत्त्वपूर्ण विषय मनुष्य ही है। इस पर ब्राह्मण ने तुरन्त उत्तर दिया, "ईश्वर को जाने बिना तुम मनुष्य का कैसे जान सकते हो ?" यह ईश्वर, यह शाश्वत अज्ञेय सत्ता, यह ब्रह्म, यह अनन्त अथवा अनाम---चाहे तुम जिस किसी भी नाम से उसे पुकारो---ज्ञात और ज्ञेय जगत् का वर्तमान जीवन का मूलभूत सिद्धान्त है, उसकी व्याख्या की कुंजी है। तुम अपने सामने की किसी भी वस्तु को ले लो, कोई भी अत्यन्त भौतिक वस्तु---भौतिक विज्ञानों में से ही किसी को ले लो, चाहे

रसायनशास्त्र हो अथवा भौतिकशास्त्र, चाहे नक्षत्र-विज्ञान अथवा जीव-विज्ञान—उसको लेकर उसका अध्ययन कर उत्तरोत्तर स्थूल से सूक्ष्म तथा सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तत्त्वों ओर बढ़ते-बढ़ते तुम एक ऐसे बिन्दु पर आ जाओगे, जहाँ आगे बढ़ने के लिए तुमको भौतिक से अभौतिक पर चला आ पड़ेगा। ज्ञान के हर क्षेत्र में स्थूल सूक्ष्म में समाहित हो जाता और भौतिक तात्त्विक में।

और यह बात यहाँ की हर चीज में लागू है, चाहे वह समाज हो, हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हो, हमारा धर्म हो अथवा नीति शास्त्र हो। कुछ लोगों ने मात्र उपयोगिता के नाम पर ही नीतिशास्त्र की स्थापना करने का प्रयास किया है। मैं उस व्यक्ति को चुनौती देता हूँ, जो इस *आधार पर किसी युक्तिसंगत नीति-*शास्त्र की स्थापना करने का दावा करता है। दूसरों की भलाई करो। पर क्यों? क्योंकि इससे अधिकतम उपयोगिता मिलेगी। मान लो, कोई व्यक्ति कहता है, "मैं उपयोगिता की परवाह नहीं करता; मैं धनी बनने के लिए दूसरों की कत्ल भी कर सकता हूँ।" इस पर तुम क्या कहोगे? यह तो हेरोड की नृशंसता को भी पार कर जाना कहलाएगा। पर मेरे विश्व की भलाई करने की उपयोगिता ही क्या है? क्या मैं बेवकूफ हूँ, जो जीवन भर इसलिए खटता रहूँ कि दूसरे सुख से रहें? मैं स्वयं ही सुख से क्यों न रहूँ, अगर समाज के परे कोई शक्ति नहीं है, अगर इन्द्रियों की दुनिया के परे कुछ नहीं है? अगर मैं अपने को पुलिस के हाथों से बचा सकूँ और सुखी रह सकूँ, तो फिर अपने भाइयों के गले काटने से भी मुझे कौन रोकनेवाला है? इस बात का तुम क्या जवाब दोगे? तुम तो किसी न किसी

तरह की उपयोगिता साबित करने के लिए बाध्य हो। इसलिए परास्त हो जाने पर भी तुम कहोगे, "मेरे बन्धु, भलाई करना ही अच्छा है।" मानव-मन की वह कौनसी शक्ति है, जो कहती है, "भलाई करना ही अच्छा है", जो आत्मा की महत्ता को इतने शानदार ढंग से हमारे सम्मुख रखती है, जो शुभ की मनोज्ञता, उसके आकर्षक तथा उसकी अनन्त शक्ति को दर्शाती है? इसे ही हम ईश्वर कहते हैं। है न?

अब मैं तनिक और अधिक सूक्ष्म बात कहने जा रहा हूँ। इस सिलसिले में मैं तुम्हारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहूँगा और निवेदन करूँगा कि जो मैं कहूँ, उससे झटपट कोई निष्कर्ष न निकाल बैठो। बात यह है कि हम लोग संसार का कोई विशेष उपकार नहीं कर सकते। संसार का उपकार करना तो अच्छी बात है, पर वस्तुतः हम इसका उपकार कर भी सकते हैं क्या? शताब्दियों से जो संघर्ष हम करते आ रहे है; क्या हमने सचमुच उससे विश्व की कुछ भलाई की है? क्या हम इन करोड़ों लोगों के सुख में किंचित् भी वृद्धि कर सके हैं? सैकड़ों हजार वर्षों से नित्य ही सुख के हजारों साधन निर्मित किये जाते रहे हैं। मैं तुमसे पूछता हूँ कि सौ वर्ष पहले जितना सुख था, क्या उसमें तनिक भी वृद्धि हुई है? यह हो नहीं सकता। समुद्र में कोई भी लहर उठती है, तो उसकी प्रतिक्रिया से जल कहीं न कहीं गहरा हो ही जाता है। अगर कोई राष्ट्र धनी और शक्तिशाली बन जाता है, तो इसका अर्थ है कि कहीं किसी राष्ट्र को क्षति पहुँची ही होगी। हर मशीन के आविष्कार से अगर बीस व्यक्ति धनी बनते हैं, तो बीस हजार व्यक्ति गरीब। सर्वत्र ही प्रतिद्वन्द्विता का यही सिद्धान्त है। अभिव्यक्त ऊर्जा का परिमाण

तो सदैव वही रहता है। इसलिए सुख की वृद्धि का प्रयास भी मूर्खतापूर्ण ही है। यह कहना कि दुःख से रहित सुख की प्राप्ति हो सकती है, बिलकुल निराधार है। सुख के साधनों को बढ़ाकर तुम लोगों की आवश्यकताओं को बढ़ा देते हो और आवश्यकताओं के बढ़ने का अर्थ है, उस पिपासा का जन्म, जो कभी शान्त नहीं होने की। किस चीज से इस पिपासा को शान्त करोगे तुम? और जब तक यह पिपासा बनी रहेगी, तब तक अशान्ति रहेगी ही। जीवन का यह स्वभाव ही है कि इसमें सुख और दुःख दोनों ही बारी-बारी से आते रहते हैं। क्या इतना समझने पर भी तुमको लगता है कि तुम संसार की भलाई कर सकोगे? क्या इस विश्व में और कोई सत्ता काम नहीं कर रही है? क्या वह ईश्वर, जो शाश्वत है, सर्वशक्तिशाली है, अत्यन्त कृपालु है, जो सब के सो जाने पर भी कभी पलकें नहीं गिराता, वह इस विश्व को हमारे-तुम्हारे मत्थे छोड़कर सदा के लिए मर-मिट गया? यह अनन्त आकाश मानो उसका विस्फारित नयन है! कैसे कहें कि वह मर गया? क्या वह विश्व में व्याप्त नहीं है? नहीं नहीं, वह अवश्य है। और तब तुमको घबराने तथा जान-बूझकर अपने को परेशान करने की क्या पड़ी है?

(स्वामीजी ने इसके बाद एक ऐसे आदमी की कहानी कही, जो एक प्रेत अपनी सेवा करने के लिए चाहता था। पर जब प्रेत मिला, तो उसे व्यस्त रखने के लिए एक झबरीले कुत्ते की दुम सीधी करने का काम देना पड़ा।)

विश्व का उपकार करने का हमारा जो प्रयास है, वह कुछ इसी ढंग का है। मेरे बन्धुओ, शताब्दियों से हम बस कुत्ते की दुम ही सीधी करते रहे हैं। यह तो जैसे गठिये की बीमारी है;

पैर से दर्द हटाओ तो सिर में चला जाता है और फिर सिर से हटाओ, तो किसी दूसरे अंग में चला जाता है।

तुममें से कुछ लोगों को लगेगा कि यह तो घोर निराशावादी दृष्टिकोण है। पर बात वैसी नहीं है। निराशावाद और आशावाद, दोनों ही गलत हैं। दोनों ही अतिवादी दृष्टिकोण हैं। जब तक व्यक्ति को खाने-पीने की प्रचुरता रहती है, पहनने के लिए भरपूर कपड़े मिलते रहते हैं, तब तक वह आशावादी रहता है। किन्तु वही आदमी जब सब कुछ खो देता है, तो घोर निराशावादी बन बैठता है। आदमी जब अपनी सारी सम्पत्ति गँवाकर नितान्त दरिद्र बन जाता है, तभी उसे विश्व-बन्धुत्व की भावना सूझती है। यही तो दुनिया है। और जितना ही अधिक मैं देश-भ्रमण करता हूँ और संसार को देखता हूँ तथा मेरी आयु जितनी ही बढ़ती जाती है, उतना ही अधिक मैं इन दोनों अतिवादी दृष्टिकोणों—आशावाद तथा निराशावाद—से परे रहने का प्रयास करता हूँ। यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा। यह तो प्रभु का संसार है। अच्छाई और बुराई से परे यह अपने आप में पूर्ण है। एक परमात्मा की इच्छा अनादि काल से विभिन्न रूपों में अपने आप को अभिव्यक्त कर रही है और अनन्त काल तक यह वैसा ही करती चली जायगी। यह विश्व मानो एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें हम और तुम जैसे अनेक प्राणी आकर जैसे व्यायाम करते तथा अन्ततः शक्तिशाली एवं पूर्ण होकर बाहर निकलते हैं। शायद इस विश्व का प्रयोजन ही यही है। यह बात नहीं है कि ईश्वर पूर्ण विश्व का निर्माण नहीं कर सकता था, दुःखरहित विश्व की रचना नहीं कर सकता था। एक नवयुवती तथा एक पादरी की वह कहानी तुमको याद होगी, जो दूरबीन

से चन्द्रमा पर के काले धब्बों को देख रहे थे। और पुजारी कहा, "वे एक गिरजाघर के शिखर हैं", जिस पर उस युव ने जवाब दिया था, "चुप भी रहो, वे दो तरुण प्रेमी होंगे, ज एक दूसरे को चूम रहे हैं।" इस विश्व के साथ भी हम लो कुछ इसी तरह पेश आ रहे हैं। जब हम भीतर रहते हैं, त सोचते हैं कि हम भीतर देख रहे हैं। वस्तुतः अस्तित्व के जिस धरातल पर हम हैं, उसी धरातल से हम विश्व को देख रहे हैं। रसोईघर की आग न तो बुरी है, न अच्छी। जब यह तुम्हारा भोजन पकाती है, तो तुम इसकी प्रशंसा करते हो और कहते हो, "यह कितनी अच्छी चीज है!" पर जब इससे तुम्हारी अँगुली जल जाती है, तो तुम चिल्ला उठते हो, "कहाँ की बला है यह!" इसी तरह यह कहना भी उतना ही उचित और युक्ति-युक्त है : यह विश्व न तो बुरा है, न अच्छा। विश्व तो विश्व है और हमेशा विश्व ही रहेगा। जब हम अपने को ऐसी परिस्थिति में रखते हैं कि इसके कार्य-कलाप से हमारा लाभ होता है, तो इसे हम भला कहते हैं; परन्तु जब हम ऐसी परिस्थिति में होते हैं कि इससे हमें पीड़ा होती है, तो हम इसे बुरा कहते हैं। इसलिए तुम देखोगे कि बच्चे, जो बिलकुल निर्दोष होते हैं तथा किसी की भी बुराई करने की बात नहीं सोचते, हमेशा खुश रहते, नितान्त आशावादी बने रहते हैं। हमेशा वे सुनहले सपने देखते रहते हैं। पर वृद्ध लोग, जो वासना की प्यास तो सँजोये रहते हैं, पर उसे तृप्त करने के साधन नहीं जुटा पाते, और विशेषकर वे लोग, जो संसार में अनेक बार ठोकरें खा चुके होते हैं, घोर निराशावादी बन जाते हैं। धर्म सत्य की खोज करता है। और पहली चीज, जिसका इसने अनुसन्धान किया है, वह है। जब तक

परम सत्य का ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक जीवन व्यर्थ है।

अगर हम इस जगत् के परे के तत्त्व को न जानें, तो जीवन रेगिस्तान बन जायगा, मानव जीवन निस्सार हो जायगा। यह कहना तो बड़ा अच्छा है कि प्रस्तुत क्षण की वस्तुओं से ही सन्तुष्ट रहो। गाय और कुत्ते तो वैसे सन्तुष्ट हैं ही; सभी जानवर ही उस तरह सन्तुष्ट हैं, और यही उन्हें जानवर बनाये हुए है। तो फिर मनुष्य भी अगर अनन्त की खोज से मुँह मोड़कर वर्तमान जीवन में ही सन्तुष्ट रहने लगे, तो मानव-जाति को एक बार फिर पशुत्व के धरातल पर जाना पड़ेगा। यह धर्म ही है, परे की खोज ही है, जो मनुष्य और पशु में भेद करती है। ठीक ही तो कहा गया है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो स्वभावतः ऊपर की ओर देखता है, अन्य सभी प्राणी स्वभावतः नीचे की ओर देखते हैं। ऊपर की ओर देखना, ऊपर उठना तथा पूर्णता की खोज करना--इसे ही मोक्ष कहते हैं। जितनी जल्दी कोई मनुष्य ऊपर उठने लगता है उतनी ही जल्दी वह मोक्ष की ओर उन्मुख होता है। यह बात इस पर निर्भर नहीं करती कि तुम्हारे पास कितने पैसे हैं, तुम कौन सी पोशाक पहनते हो अथवा तुम कैसे मकान में रहते हो; बल्कि यह इस पर निर्भर है कि तुम्हारे मन में कितनी बड़ी आध्यात्मिक निधि है। यही मानव को उन्नति की ओर ले जाती है, यही भौतिक और बौद्धिक प्रगति का मूल स्रोत है, तथा यही मानवता को सदैव आगे बढ़ाने-वाला उत्साह, और पृष्ठभूमि में रहनेवाली प्रेरक शक्ति है।

आखिर मानवता का लक्ष्य क्या है ? आनन्द ? इन्द्रिय-सुख ? प्राचीन काल में लोग कहा करते थे कि स्वर्ग में लोक ढोल बजाते तथा एक सिंहासन के चारों ओर रहते हैं। आधुनिक युग में

स्वर्ग का यह आदर्श लोगों को फीका जँचता है। इसलिए इसके स्थान में वे कहते हैं कि स्वर्ग में लोग विवाहादि सुखों के साथ रहते हैं। अगर दूसरे आदर्श में पहले की अपेक्षा कुछ सुधार दीखता है तो यह सुधार और भी खराब है। स्वर्ग के सम्बन्ध में जो विभिन्न कल्पनाएँ सुनने को मिलती हैं, वे सब की सब हमारे मन की कमजोरियों का प्रतीक हैं। और वे कमजोरियाँ इन वजहों से हैं : पहले तो लोक इन्द्रिय-सुख को ही जीवन का लक्ष्य मानने हैं। दूसरे, पाँचों इन्द्रियों से परे किसी चीज की लोग कल्पना तक नहीं कर सकते। ये लोग उतने ही अविवेकी हैं, जितने अविवेकी उपयोगितावादी हैं। पर इतना होने पर भी ये लोग उन नास्तिक उपयोगितावादियों से तो अच्छे हैं ही। उपयोगितावादिता तो निरी नादानी है। तुमको यह कहने का क्या अधिकार है, "यही मेरा मापदण्ड है और सारे विश्व को इसी मापदण्ड से नापा जाना चाहिए"? तुमको क्या अधिकार है, सारे विश्व को अपने मूल्यों से मापने का? और वह भी तब, जब तुम रोटी, रुपया और वस्त्र को ही ईश्वर मान रहे हो!

धर्म रोटी में नहीं है, मकान में नहीं है। बार-बार लोग प्रश्न करते हैं, "धर्म से आखिर कौन सी भलाई होगी? क्या यह गरीबों की दरिद्रता दूर कर सकेगा और उनके लिए वस्त्रों का प्रबन्ध कर सकेगा?" मान लो कि धर्म यह सब नहीं कर सकता। तो क्या इससे धर्म की असत्यता सिद्ध हो जायगी? मान लो, तुम ज्योतिष के किसी सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हो और कोई बच्चा आकर कहने लगे, क्या यह मीठी रोटी ला देगा?" तुम कहोगे, "नहीं, यह नहीं लानेवाला है।" इस पर बच्चा कहेगा, "तब तो यह बेकार है।" विश्व को देखने का

बच्चों का अपना दृष्टिकोण है—वही रोटी ला देनेवाला। और ठीक ऐसी ही बातें संसार के ये नादान बच्चे भी करते हैं।

यह दु:ख की बात है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस तरह की बातें विद्वत्ता, विवेक और बौद्धिकता की निशानी मानी जाती हैं।

हमें उच्च स्तर की वस्तुओं को अपने निम्नस्तरीय मापदण्ड नहीं मापना चाहिए। हर चीज के मापन का अपना स्तर ोता है। इसलिए अनन्त तत्त्व का मूल्यांकन भी अनन्तस्तरीय तिमान से ही हो सकता है। धर्म सम्पूर्ण मानव-जीवन में परि-याप्त है, न केवल वर्तमान में, अपितु भूत और भविष्य में भी। ात: उसे हम शाश्वत आत्मा का शाश्वत ब्रह्म से शाश्वत सम्बन्ध कह सकते हैं। पाँच मिनट के इस मानव-जीवन पर इसका क्या ाभाव पडता है, केवल इसी बात से हम कैसे इसके मूल्य को जाँच ाकते हैं? पर ये सभी तर्क तो नकारात्मक हैं।

अब प्रश्न आता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है? कर सकता है।

क्या धर्म रोटी और कपड़े का प्रबन्ध कर सकता है? कर सकता है। यह तो हमेशा से ऐसा करता आ रहा है। और इतना ही क्यों, इससे असख्य गुना अधिक काम करता आ रहा है—यह मनुष्य को शाश्वत जीवन प्रदान करता रहा है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है, वह धर्म ही की बदौलत। धर्म ही इस मानव-पशु को ईश्वर बना देगा। यह है धर्म की क्षमता। मानव-समाज से धर्म को निकाल दो, तो फिर शेष क्या बचेगा? पशुओं से भरे जंगल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जैसा कि मैं अभी कह चुका हूँ, इन्द्रिय-सुख को मानवता का चरम लक्ष्य मानना महज

मूर्खता है; मानव-जीवन का लक्ष्य तो ज्ञान है। मैंने यह दिखला का प्रयास किया है कि यद्यपि हजारों वर्षों से हम सत्य की खोज और मानवता के कल्याण के लिए संघर्ष करते आ रहे हैं, पर इस क्षेत्र में किंचित् मात्र ही प्रगति कर पाये हैं। किन्तु मनुष्य ने ज्ञान के क्षेत्र में अद्‌भुत सफलता पायी है। इस सम्पूर्ण ज्ञानराशि का उपयोग मानव की सुख-सुविधा के लिए नहीं, अपितु मानव को पशुत्व की श्रेणी से उठाकर देवत्व की श्रेणी में लाने के लिए होना चाहिए। वैसा होने पर स्वभावतः ही ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति होगी। बच्चे सोचते हैं कि इन्द्रिय-सुख ही सर्वस्व है। पर तुम जानते हो कि इन्द्रिय-सुख से लाख गुना अधिक प्रिय बौद्धिक सुख होता है। जितना आनन्द कुत्ते को खाने में आता है, उतना किसी आदमी को नहीं आ सकता। तुम इस बात की परीक्षा कर सकते हो। तब आदमी को आनन्द आता किसमें है? मैं उस आनन्द की बात नहीं करता, जो किसी कुत्ते अथवा सुअर को भोजन करते वक्त मिलता है। सोचो तो भला, सूअर किस तन्मयता से खाता है! वह इतना विभोर होकर खाता है कि उस समय सम्पूर्ण विश्व को भूल जाता है। कोई भी मनुष्य शायद ऐसा नहीं कर सकता। मनुष्य का भोजन-जनित वह आनन्द तब कहाँ चला गया? मनुष्य ने उसे बौद्धिक आनन्द में परिवर्तित कर लिया है। सूअर धार्मिक उपदेशों में आनन्द नहीं ले सकता। इस बौद्धिक आनन्द से भी एक कदम ऊँचा और तीव्रतर आध्यात्मिक आनन्द है, जो मस्तिष्क और बुद्धि की सीमाओं के पार की वस्तु है। किन्तु उसे पाने के लिए हमें इन्द्रियजनित सारे सुखों को छोड़ना पड़ेगा। यही उपयोगिता का चरम बिन्दु है। उपयोगिता तो वही है जिसका मैं उपभोग

करूँ, प्रत्येक आदमी उपभोग करे; और उसी उपयोगिता की हमें तलाश है !

हम देखते हैं कि एक पशु जितना आनन्द अपनी इन्द्रियों के माध्यम से पाता है उससे अधिक आनन्द मनुष्य अपनी बुद्धि के माध्यम से अनुभव करता है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि मनुष्य आध्यात्मिक प्रकृति का बौद्धिक प्रकृति से भी अधिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इसलिए मनुष्य का परम ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान ही माना जा सकता है। इस ज्ञान के होते ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। संसार की सारी चीजें मिथ्या, छाया मात्र हैं, वे परम ज्ञान और आनन्द की तृतीय या चतुर्थ स्तर की अभिव्यक्तियाँ हैं।

यह वह आनन्द है, जो मानव मात्र को प्रेम करने से मिलता है। इस आध्यात्मिक आनन्द की छाया मानव-प्रेम में देखने को मिलती है। किन्तु इसे ही वह आनन्द नहीं मान लेना चाहिए। यहीं हम भयंकर भूल कर बैठते हैं : हम अपने क्षुद्र प्रेम को—शारीरिक मानव-प्रेम को, कणों के प्रति सम्मोह को, समाज में रहनेवाले प्राणियों के पारस्परिक विद्युत् आकर्षण को—परमानन्द मान बैठते हैं, जो वह नहीं होता। चूँकि अंग्रेजी में इस अभिप्राय का कोई दूसरा शब्द नहीं मिलता, इसलिए मैं इसे 'ब्लिस' (Bliss) कहूँगा, जो शाश्वत ज्ञान के समकक्ष है तथा जो हमारा लक्ष्य है। विश्व में जितने धर्म स्थापित हुए हैं तथा होंगे, उन सब का मूल स्रोत एक रहा है तथा एक ही रहेगा, भले ही विभिन्न देशों में उसे विभिन्न नामों से पुकारा जाय। पाश्चात्य देशों में तुम उसे अन्तःस्फुरण (inspiration) कहते हो। यह अन्तःस्फुरण क्या है ? अन्तःस्फुरण ही समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का मूल है।

लाते हैं, और वे ही विश्व के दिव्य प्रेरित द्रष्टा हैं।

किन्तु एक बहुत बड़ा खतरा भी है। कोई भी व्यक्ति क
सकता है कि उसे दैवी प्रेरणा मिली है; बहुत बार वे ऐसा कह
हैं, तो इसकी कसौटी क्या है? निद्रावस्था में हम अचेतन ह
जाते हैं। पर एक मूर्ख तीन घण्टे तक घोर निद्रा में सोकर भ
जब जगता है तो, यदि और भी अधिक निकम्मा नहीं, तो पहले
जैसे मूर्ख ही रहता है। किन्तु दिव्यान्तर (transfiguration) के
बाद जब नाजरथ के जीसस लौटते हैं, तो जीसस क्राइस्ट हो
जाते हैं। यही अन्तर है। एक दिव्य स्फुरण है और दूसरा
जन्मजात-प्रवृत्ति। एक निरा बच्चा है, तो दूसरा अनुभवी वयो-
वृद्ध पुरुष। यह दिव्य स्फुरण हममें से प्रत्येक को मिल सकता
है। सारे धर्मों का स्रोत यही है, सारे उच्च स्तरीय ज्ञान का
स्रोत यही है और रहेगा। फिर भी यह मार्ग खतरे से खाली
नहीं है। कभी कभी धूर्त व्यक्ति अपने को संसार के ऊपर हावी
करने से बाज नहीं आते। और आजकल तो यह काम और भी
चल पड़ा है। मेरे एक मित्र के पास एक बड़ा सुन्दर चित्र था।
एक दूसरे सज्जन की, जो कुछ धार्मिक प्रकृति के थे और जो
काफी धनी थे, आँखें उस तस्वीर पर पड़ गयीं। किन्तु मेरा मित्र
उसे बेचने के लिए तैयार न था। एक दिन वे सज्जन आये और
कहने लगे, "मुझे प्रेरणा मिली है, ईश्वर से एक सन्देश मिला
है।" मेरे मित्र ने पूछा, "कौन सी दिव्य प्रेरणा है वह?" तब
उन्होंने कहा, "आप उस चित्र को मुझे अवश्य दे दें।" इस पर
मेरे मित्र ने तुरन्त कहा, "अहा, कितनी सुन्दर बात है! मुझे
भी ठीक यही दिव्य प्रेरणा मिली है कि मुझे वह तस्वीर आपको
दे देनी होगी। क्या आप चेक लाये हैं?" "चेक? कैसा चेक?"
तब मेरे मित्र ने कहा, "तब मैं नहीं मानता कि आपको ठीक-ठीक

दिव्य प्रेरणा मिली है। मुझे तो यह सन्देश मिला कि जो कोई भी १००००० डालर का चेक लेकर आये, उसे वह तस्वीर दे दूं। इसलिए पहले आप चेक ले आइये।" इस पर उस व्यक्ति को लगा कि वह पकड़ा गया और तब से उसने फिर कभी दिव्य प्रेरणा मिलने की बात नहीं की। ये ही सब खतरे हैं। बोस्टन में एक सज्जन मेरे पास आये और कहने लगे, "स्वप्न में मुझ से हिन्दू लोगों की भाषा में बातें की गयी हैं।" मैंने कहा कि जो तुमसे कहा गया है, उसे सुनूं भी तो भला। किन्तु उन्होंने बहुत सारे निरर्थक अक्षर लिख डाले। मैंने उसे समझने की भरसक चेष्टा की, पर व्यर्थ। मैंने उनसे कहा कि जहाँ तक मुझे ज्ञान है, ऐसी भाषा हिन्दुस्थान में न तो कभी रही है और न कभी होगी। हिन्दुस्थान के लोग अभी इतने सभ्य नहीं हुए हैं कि ऐसी भाषा का प्रयोग कर सकें। उस सज्जन ने सोचा होगा कि मैं पक्का दुष्ट और संशयवादी आदमी हूँ और उसने अपनी राह ली। बाद में मुझे यह जानकर आश्चर्य न हुआ कि वह आदमी पागलखाने भेज दिया गया। ये ही दो तरह के खतरे दुनिया में हैं। एक तो धूर्तों से और दूसरा मूर्खों से। पर इससे हमें हताश न होना चाहिए, क्योंकि दुनिया की हर बड़ी चीज के मार्ग में खतरे रहते ही हैं। किन्तु हमें सावधानी अवश्य बरतनी होगी। कभी-कभी ऐसे लोगों से हमारी भेंट होती है, जो किसी चीज को तर्क की कसौटी पर कसने के लिए एकदम तैयार नहीं होते। कोई भी व्यक्ति आकर कह सकता है—मुझे अमुक देवता का सन्देश मिला है। क्या तुम इसे अस्वीकार करोगे? क्या यह सम्भव नहीं कि अमुक देवता है और अपना सन्देश भेज सकते हैं? नब्बे प्रतिशत मूर्ख उसकी बातों को मान लेंगे। बातों को मान भर लेना इनका काम है। किन्तु एक बात जरूर है, कोई

भी घटना घट सकती है; अगले साल किसी खराब ग्रह के संयोग से पृथ्वी टूक-टूक हो जा सकती है। किन्तु जब मैं ऐसा कहता हूँ, तो तुमको पूरा अधिकार है कि मुझसे कहो कि मैं अपने कथन को सिद्ध करके दिखा दूँ। जिसे वकील लोग Onus probandi अर्थात्—सिद्ध करने का दायित्व, कहते हैं, वह उस व्यक्ति पर आता है, जो किसी कथन को कहता है। जब मैं कहता हूँ कि मुझे अमुक देवता की दिव्य प्रेरणा मिली है, तो तुम्हारा नहीं बल्कि मेरा दायित्व होता है कि उसे सिद्ध करके दिखा दूँ, क्योंकि कथन तो मेरा ही है। अगर मैं इसे सिद्ध नहीं कर सकता, तो मेरा चुप रहना ही श्रेयस्कर है। अगर तुम इन दो तरह के खतरों से बच सको, तो तुम संसार में कहीं भी विचरण कर सकते हो। हममें से बहुतों को यह आभास होता है कि किसी देवता की प्रेरणा हमें मिली है। जब तक उस दिव्य प्रेरणा का सम्बन्ध अपने आपसे रहे, तब तक तो उससे कोई खतरा नहीं है; पर जब उसका प्रभाव हमारे सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों पर पड़ने लगे, तो उसके बारे में हजार वार सोचकर कदम उठाओ; तभी तुम सुरक्षित रह सकोगे।

हम देखते हैं कि यह अन्तःस्फुरण ही धर्म का एकमात्र मूल स्रोत है; फिर भी इसमें भी सदा खतरे की सम्भावना रहती है। और सब से बड़ा खतरा है दावे का अतिरेक। कुछ लोग आकर कहने लगते हैं कि उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ है, वे सर्व-शक्तिमान ईश्वर के प्रवक्ता हैं तथा उनके सिवा किसी और को यह अधिकार नहीं मिला है। आपाततः यह कथन ही अनुचित है। अगर विश्व में ऐसी कोई चीज है, तो वह सर्वव्यापक है। ऐसी कोई भी क्रिया नहीं, जो विश्व में सर्वत्र नहीं हो सकती,

क्योंकि विश्व तो नियमबद्ध है; सर्वत्र ही इसमें नियमितता तथा सामंजस्य है। इसलिए अगर कोई चीज एक जगह है, तो वह हर जगह भी है। जिस नियम से एक परमाणु बना है, उसी नियम से बड़े बड़े नक्षत्र और ग्रह भी बने हैं। अगर कभी किसी एक व्यक्ति को दैवी प्रेरणा मिली है, तो विश्व के हर व्यक्ति को प्रेरणा मिलने की संभावना है। और यही धर्म है। तुम इन सारे खतरों तथा भ्रमों से अलग हटकर धार्मिक तत्त्वों के संसर्ग में आओ और धर्म के विज्ञान का साक्षात्कार करो। बहुत सारे सिद्धान्तों में विश्वास करने, बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़ने तथा मन्दिर-मस्जिद में जाने में ही धार्मिकता निहित नहीं है। क्या तुमने ईश्वर का दर्शन किया है? तुमने आत्मा की अनुभूति की है? अगर नहीं तो क्या तुम इसके लिये साधना कर रहे हो। ये सब बातें वर्तमान जीवन में ही अनुभव करने की हैं। इनके लिए चिरकाल तक प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं। भविष्य क्या है? असीमित वर्तमान ही तो भविष्य है! काल क्या है? एक क्षण का पुन: पुन: दुहराया जाना ही तो है। धर्म इसी जीवन की वस्तु है, इसी वर्तमान जीवन की।

एक प्रश्न और : लक्ष्य क्या है? आजकल लोग कहते हैं कि मनुष्य दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति कर रहा है, किन्तु उसके समक्ष कोई ऐसा बिन्दु नहीं, जिसे वह अपने पूर्णतम विकास का प्रतीक मान ले। सतत आगे बढ़ते जाओ, पर पहुँचो कहीं नहीं। इसका जो भी अर्थ हो, कितना ही अद्भुत यह क्यों न हो, किन्तु है एकदम अनर्गल। क्या कोई भी गति सीधी रेखा में होती है? और यदि सीधी रेखा अनन्त दूरी तक बढ़ायी जाय, तो वह एक वृत्त बना देती है, और आदि बिन्दु पर लौट आती है। जहाँ

से तुमने प्रारम्भ किया था, वहीं लौटकर आना पड़ेगा। तुमने ईश्वर से प्रारम्भ किया है, तो अन्तत: ईश्वर ही आना पड़ेगा। तब शेष क्या रह जायगा? तुम्हारा स्फुट अनन्त काल तक तुमको स्फुट काय करते रहना पड़ेगा।

एक दूसरा प्रश्न भी है: क्या प्रगति के पथ में हम नये ध सत्यों का भी अनुसन्धान कर सकते हैं? हाँ, और नही पहले तो हम धर्म के बारे में इससे अधिक अब जान नहीं स जो ज्ञेय था, वह ज्ञात हो चुका। संसार के सभी धर्म घ करते हैं कि हम सबों में एकता का कोई न कोई सूत्र है। हम उस दैवी सत्ता से एक हो चुके, तो इस अर्थ में आगे प्रगति नहीं हो सकती। ज्ञान का अर्थ है, विविधता में इस ए की उपलब्धि। मैं तुम लोगों के बीच स्त्री और पुरुष दे हूँ—यह हुई विविधता। यदि मैं तुम सब लोगों को एक ही में रखकर मानव कहूँ, तो यह वैज्ञानिक ज्ञान कहा जाय दृष्टान्त के लिए रसायनशास्त्र को लो। सभी ज्ञात पदार्थों रसायनशास्त्री उनके मौलिक तत्त्वों में विश्लेषित करना अ यदि सम्भव हो तो, उस एक तत्त्व को खोज लेना चाहते हैं, जि ये सब उद्भूत हुए हैं। ऐसा समय आ सकता है, जब वे एक तत्त्व को जान लेंगे। उसका पता चल जाने पर वे अ आगे नहीं जा सकेंगे, रसायनशास्त्र पूर्ण हो जायगा। ठीक य बात आध्यात्मिक विज्ञान के साथ भी है। यदि हम इस मौलि एकता को जान लेते हैं, तो और आगे प्रगति नहीं हो सकती।

जिस दिन यह पता चल गया, 'मैं और मेरे पिता एक है उसी दिन धार्मिक ज्ञान का अन्तिम शब्द कह दिया गया। इस बाद तो उसका विवरण करना ही शेष रहा। सच्चे धर्म

अन्धविश्वास जैसा विश्वास या आस्था नहीं होती। किसी भी महान् धर्मगुरु ने ऐसा उपदेश नहीं दिया है। मूर्ख लोग इस या उस आध्यात्मिक महापुरुष के अनुयायी होने का दम्भ भरते हैं, और भले ही उनमें कोई शक्ति न हो, सारी मानवता को आँखें बन्द करके विश्वास करने का उपदेश देते फिरते हैं। आखिर विश्वास किसमें किया जाए ? बिना सोचे-विचारे विश्वास करना तो आत्मा का पतन है। तुम नास्तिक भले ही हो जाओ, परन्तु बिना सोचे-विचारे किसी चीज में विश्वास न करो। तुम क्यों अपनी आत्मा को पशुओं के स्तर में ले आओ! ऐसा करके तुम केवल अपने को ही हानि नहीं पहुँचाते, बल्कि समाज तथा आनेवाली पीढ़ी को भी। तनकर खड़े हो, अन्धविश्वास छोड़कर तर्क करो। धर्म विश्वास की वस्तु नहीं बल्कि होने और बनने की वस्तु है। यही धर्म है और अगर तुम इसका अनुभव कर लोगे, तो धार्मिक कहे जाओगे। इसके पहले तुम पशुओं से भिन्न नहीं हो। बुद्ध ने कहा है—"जो तुमने सुना है, उसमें विश्वास न कर लो; न इसीलिए विश्वास कर लो कि ये सिद्धान्त तुम्हें पिछली पीढ़ियों से प्राप्त हुए हैं; किसी बात में इसलिए विश्वास न कर लो कि उसे लोग अन्धों की तरह मानते हैं; न इसलिए विश्वास करो कि कोई वृद्ध महर्षि कुछ कह रहे हैं; न उन सत्यों में विश्वास कर लो, जिनसे आदतवश तुम्हारा सम्बन्ध हो गया है; और न अपने गुरुओं अथवा वृद्ध जनों के प्रमाण मात्र पर विश्वास कर लो। अपने आप सोचो, विश्लेषण करो, और तब यदि निष्कर्ष तुम्हें बुद्धिसंगत तथा सब के लिए हितकर लगे, तो उसमें विश्वास करो और उसे अपने जीवन में ढाल लो।"

———

आत्मा, ईश्वर और धर्म

अतीत की वीथियों से आता हुआ शताब्दियों का स्वर हमारे कानों में गूंज रहा है। यह स्वर हिमालय के ऋषियों, वनवासी तपस्वियों का है!, यह वही स्वर है, जिसे सेमेटिक जातियों ने सुना था। यह वही स्वर है, जिसका प्रस्फुटन बुद्ध तथा अन्य आध्यात्मिक दिग्गजों में हुआ था! यह स्वर उन महापुरुषों से होकर आया है, जो मनुष्य के शाश्वत संगी प्रकाश में जीते हैं-- यह प्रकाश, जो उसमें रहनेवाले मनुष्यों में सदैव चमकता है। भी यह हमारे कानों में गूंज रहा है। यह स्वर तो पर्वत से प्रवाहित उन लघु धाराओं की तरह है, जो कभी तो विलुप्त हो जातीं और कभी प्रबल वेग से बहती हुई एक में मिलकर महान् जलप्लावन उपस्थित कर देती हैं। सभी देशों तथा सभी सम्प्रदायों के पैगम्बरों एवं महात्मा स्त्री-पुरुषों के उपदेश समवेत स्वर में अतीत के गर्भ से डंके की चोट हमसे कह रहे हैं, "तुम्हें तथा समस्त धर्मों को शान्ति मिले।" यह सन्देश विरोध का नहीं; प्रत्युत वह एकभूत धर्म का सन्देश है।

पहले हम इस सन्देश पर ही विचार करें। इस शताब्दि के प्रारम्भ में ऐसा भय था कि धर्म कहीं विनष्ट न हो जाय। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के हथौड़ों के प्रबल प्रहारों से पुराने अन्ध-विश्वास चीनी मिट्टी के ढेरों की तरह चकनाचूर हो रहे थे। जिनके लिए धर्म केवल कुछ मतवादों और निरर्थक अनुष्ठानों का पुंज मात्र था, उनकी हालत नाजुक थी, उनकी समझ में कुछ आ

ही नहीं रहा था। सब कुछ जैसे उनके हाथों से खिसकता जा रहा था। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा कि अज्ञेयवाद और भौतिकवाद के उमड़ते ज्वार में सब कुछ विलीन हो जायगा। कुछ लोग ऐसे थे, जिन्हें अपने विचारों को कहने का साहस नहीं होता था। साथ ही कुछ लोग ऐसा सोचने लगे थे कि धर्म में कुछ रह नहीं गया, यह सदा के लिए सो गया। किन्तु समय ने पलटा खाया और इसके उद्धार के लिए आया--क्या ? तुलनात्मक धर्माध्ययन। विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने से हम देखते हैं कि मूलतः वे एक ही हैं। जब मैं लड़का था, तो इस संशयवाद से मेरा परिचय हुआ और कुछ समय के लिए ऐसा लगा, जैसे धर्म-सम्बन्धी सारी आशाओं को मैं छोड़ ही दूँ। किन्तु सौभाग्य से मैंने ईसाई, इस्लाम, बौद्ध तथा अन्य धर्मों का अध्ययन किया और यह जानकर मुझे आश्चर्य हुआ कि जो मौलिक सिद्धान्त हमारे धर्म में सिखाये जाते हैं वे ही अन्य धर्मों में भी। इसका ज्ञान हमें यों हुआ : मैंने पूछा--सत्य क्या है ? क्या यह जगत् सत्य है ? हाँ। क्योंकि मैं इसे देखता हूँ। क्या यह मधुर ध्वनि (कण्ठ या वाद्य संगीत), जिसे हमने अभी सुना, सत्य है ? हाँ। क्योंकि हमने उसे सुना। हम जानते हैं कि मनुष्य के एक शरीर है, आँखें हैं, कान हैं तथा उसका एक आध्यात्मिक पक्ष है, जिसे हम देख नहीं सकते। अपने आध्यात्मिक सामर्थ्य से वह विभिन्न धर्मों का अध्ययन करके जान सकता है कि सभी धर्म तत्त्वतः एक हैं, चाहे वे भारतवर्ष के जंगलों में सिखाये जाते हों, चाहे ईसाई-भूमि में। इससे तो यही पता चलता है कि धर्म मानव-मस्तिष्क की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। इस तरह किसी एक धर्म का सत्य होना अन्य सभी धर्मों के सत्य होने के ऊपर

निर्भर करता है। उदाहरणस्वरूप, अगर मेरे छः अँगुलियाँ हैं और किसी दूसरे व्यक्ति के नहीं हैं, तो तुम कह सकते हो कि मेरे छः अँगुलियों का होना असामान्य है। यह बात इस तर्क के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है कि कोई एक धर्म सत्य है और अन्य सभी झूठ हैं। किसी एक ही धर्म का सत्य होना वैसा ही अस्वाभाविक है, जैसा संसार में किसी एक ही व्यक्ति के छः अँगुलियों का होना। इस तरह हम देखते हैं कि अगर कोई एक धर्म सत्य है, तो अन्य सभी धर्म भी सत्य हैं। उनके असारभूत तत्त्वों में अन्तर पड़ सकता है पर तत्त्वतः सभी एक हैं। अगर मेरी पाँच अँगुलियाँ सत्य हैं, तो वे सिद्ध करती हैं कि तुम्हारी पाँच अँगुलियाँ भी सत्य हैं। मनुष्य जहाँ भी हो, कोई न कोई आस्था विकसित कर ही लेता है, अपनी धार्मिक प्रकृति का प्रस्फुटन कर ही लेता है।

विभिन्न धर्मों के अध्ययन से जो दूसरी बात मुझे मालूम हुई, वह यह है कि आत्मा और ईश्वर-सम्बन्धी विचारों की तीन भिन्न अवस्थाएँ हैं। पहले तो सभी धर्म यह स्वीकार करते हैं कि इस नश्वर शरीर से परे हमारा कोई ऐसा भी अंश है, अथवा कुछ ऐसा भी है, जो शरीर की तरह परिवर्तित नहीं होता। वह अंश अपरिवर्तनशील है, शाश्वत है, अमर है। पर बाद के कुछ धर्मों का कहना है कि हमारे उस अपरिवर्तनशील अंश का अन्त तो नहीं है, पर आदि अवश्य है। किन्तु जिस किसी भी वस्तु का आदि है, उसका अन्त भी होगा ही। हमारा—हमारे सारभूत तत्त्व का—कोई आदि नहीं और न हमारा कभी अन्त होगा। और हम सबों से परे, इस शाश्वत प्रकृति से परे, एक दूसरी शाश्वत सत्ता है, जिसका कभी विनाश नहीं होता—वह है ईश्वर।

। विश्व की रचना तथा मानव-सृष्टि के प्रारम्भ की चर्चा
ो हैं। यहाँ 'प्रारम्भ' शब्द का तात्पर्य किसी वृत्त के प्रारम्भ
। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि इस ब्रह्माण्ड (cosmos)
कभी प्रारम्भ हुआ है। यह हो नहीं सकता कि सृष्टि का
ो प्रारम्भ हुआ हो। तुममें से कोई भी प्रारम्भ-काल की
पना नहीं कर सकता! जिसका प्रारम्भ होता है, उसका अन्त
निश्चित है। 'कोई भी समय ऐसा नहीं था, जब मैं नहीं था
ावा तुम नहीं थे; और न कोई ऐसा समय होगा, जब हममें
कोई न रहेगा।' --ऐसा भगवद्गीता कहती है। जहाँ कहीं
सृष्टि के प्रारम्भ का जिक्र किया गया है, वहाँ उसका तात्पर्य
सी वृत्त के प्रारम्भ से है। तुम्हारा शरीर मृत्यु का शिकार
सकता है, पर तुम्हारी आत्मा नहीं।

आत्मा-सम्बन्धी इन विचारों के साथ-साथ आत्मा की पूर्णता
सम्बद्ध एक दूसरे विचार-समूह को भी हम पाते हैं। आत्मा
पने आपमें पूर्ण है। यहूदी लोगों का 'नव व्यवस्थान' प्रारम्भ
ही मनुष्य को पूर्ण मानता है। मनुष्य ने अपने कर्मों द्वारा
अपने को अपवित्र बना डाला। किन्तु उसे अपने मौलिक स्वरूप
को पुनः पाना है जो पवित्र है। कुछ लोग इसी बात को रूपकों,
कथाओं और प्रतीकों के माध्यम से कहते हैं। किन्तु जब हम
इन कथनों की व्याख्या करने लगते हैं, तो पाते हैं कि इन सबों
का मन्तव्य यही है कि आत्मा स्वरूप से ही पूर्ण है और मनुष्य
को अपनी मौलिक पवित्रता को पाना है। कैसे? ईश्वर को
जानकर। ठीक वैसे ही, जैसे यहूदी लोगों की बाइबिल कहती
है--'पुत्र (ईसा) को अपनाये बिना कोई ईश्वर को देख नहीं
सकता।' इसका क्या तात्पर्य? ईश्वर को पाना ही जीवन क

चरम उद्देश्य है। इसके पहले कि हम परम पिता से एकाकार हो सकें, 'पुत्रत्व' का आना आवश्यक है। याद रखो कि मनुष्य ने अपनी पवित्रता अपने ही कर्मों से खो दी है। अगर हम कष्ट लेलते हैं, तो वह हमारे कर्मों का ही परिणाम है; ईश्वर इसके लए दोषी नहीं। इन विचारों से अत्यन्त सन्निकट एक दूसरा भी सिद्धान्त है, जो यूरोपीय लोगों द्वारा विकृत होने के पूर्व वश्वजनीन था—वह है पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

तुममें से कुछ लोगों ने इसके बारे में सुना अवश्य होगा, पर ध्यान नहीं दिया होगा। यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानवात्मा के अमरत्व-सम्बन्धी इतर सिद्धान्त के समानान्तर ही चलता है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं, जिसका किसी एक बिन्दु पर अन्त तो होता हो, पर वह अनादि हो और न कोई ऐसी ही वस्तु है, जिसका किसी एक बिन्दु पर प्रारम्भ हो, पर उसका अन्त न हो। हम इस विकट असम्भाव्यता में कदापि विश्वास नहीं कर सकते कि 'मानवात्मा' का कोई आदि है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की स्वतन्त्रता को प्रतिपादित करता है। अगर तुम किसी निरा-धार आरम्भ की कल्पना करते हो, तो स्वभावतः ही मनुष्य की सारी अपवित्रताओं का भार ईश्वर पर चला जाता है। किन्तु परम दयामय परम पिता कहीं संसार के पापों के लिए उत्तरदायी हो सकता है? अगर पाप इसी प्रकार उत्पन्न हुआ है, तो एक मनुष्य दूसरे से अधिक क्यों दुःख झेलता है? अगर सर्वक्षमाशील प्रभु से ही पापों का प्रादुर्भाव हुआ, तो ऐसा पक्षपात क्यों? करोड़ों लोग क्यों पैरों तले रौंद दिये जाते हैं? क्यों अनगिनत लोग भुखमरी के शिकार हो जाते हैं, यद्यपि वे इसके लिए रंच मात्र भी उत्तरदायी नहीं? कौन जवाबदेह है तब? अगर मनुष्य

का इसमें तनिक भी हाथ नहीं, तो निस्सन्देह ईश्वर सब का भागी है। पर इससे अच्छी व्याख्या तो यह होगी कि व्यक्ति स्वयं अपने कष्टों के लिए उत्तरदायी है। अगर मैं चक्र को एक बार चला दूँ, तो उसके परिणामों के लिए मैं जवाबदेह हूँ। और अगर मैं कष्टों का निर्माता हूँ, तो मैं उन्हें रोक भी सकता हूँ। इस तरह निष्कष निकलता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ। दैव या भाग्य नाम की कोई चीज नहीं, कोई भी ऐसी चीज नहीं, जो हमें बाध्य करे। जो हमने किया है, उसका हम निराकरण भी कर सकत हैं।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में दिये गये एक तर्क की ओर हम तुम्हारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करेंगे। कारण, यह थोड़ा जटिल है। हम अपना समस्त ज्ञान अनुभव के द्वारा प्राप्त करते हैं और जिन्हें हम अनुभव कहते हैं, वे चेतना के स्तर पर ही होते हैं। उदाहरणतः कोई मनुष्य पियानो पर कोई धुन बजाता है। वह प्रत्येक सुर पर अपनी अँगुली जान-बुझकर रखता है। इस क्रम की आवृत्ति वह तब तक करता जाता है, जब तक उसकी अँगुलियाँ अभ्यस्त नहीं हो जातीं। अभ्यस्त होने पर प्रत्येक सुर पर बिना विशेष ध्यान दिये ही वह उस धुन को बजाता है। ठीक उसी तरह हम अपने बारे में भी देखते हैं कि हमारी प्रवृत्तियाँ हमारे अतीत के संचित कर्मों के ही परिणाम-स्वरूप हैं। कोई भी बच्चा कुछ खास प्रवृत्तियों के साथ पैदा होता है। वे कहाँ से आती हैं? कोई भी बच्चा अनुत्कीर्ण फलक (tabula rasa)—सादे पन्ने की तरह कोरा मन लेकर पैदा नहीं होता। उसके मनरूपी पन्ने पर पहले से ही कुछ लिखा रहता है। यूनान और मिस्र के प्राचीन दार्शनिकों ने बताया है कि कोई भी बच्चा शून्य मन लेकर नहीं आता। प्रत्येक बच्चा

अपने पूर्वकृत कर्मों से उत्पन्न सैकड़ों प्रवृत्तियों के साथ उत्
होता है। इस जन्म में तो उसने उन्हें पाया नहीं। तब हम
मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि अवश्य ही वे उसके पिछ
जन्म की हैं। पहले सिरे के भौतिकवादी को भी यह मान
पड़ता है कि ये प्रवृत्तियाँ पिछले कर्मों के परिणामस्वरूप हैं। ह
इतना वे अवश्य जोड़ देते हैं कि ये वंशानुगत हैं। अब अग
इन्हें वंशानुगत कहने से ही व्याख्या पूरी हो जाती है, तो आत्म
में विश्वास करने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि शरीर ह
सब की व्याख्या कर देता है। खैर, हमें भौतिकवाद और आत्मवा
के तर्कों में उलझना नहीं है। जो वैयक्तिक आत्मा में विश्वा
करते हैं, उनके लिए यहाँ तक रास्ता साफ है। इस तरह हम
ते हैं कि किसी समुचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए यह
मानना जरूरी हो जाता है कि हमारे पिछले जीवन भी रहे हैं।
अतीत और वर्तमान के महान् दार्शनिकों एवं महर्षियों का यही
विश्वास है। यहूदियों में एक ऐसा ही सिद्धान्त प्रचलित था।
ईसा मसीह इसको मानते थे। उन्होंने बाइबिल में कहा है--
"अब्राहम के पहले से ही मैं हूँ।" और उनके विषय में अन्यत्र
कहा गया है--"ये एलिया ही आये हैं।"

विभिन्न जातियों में विभिन्न परिस्थितियों के बीच विकसित
हुए, विश्व के सभी धर्म मूलतः एशिया से ही निकले हैं; एतदर्थ
एशियावासी उन्हें अच्छी तरह समझते हैं। जब वे अपनी जन्म-
भूमि से बाहर आये, तो अनेकानेक दोष उनमें घुल-मिल गये।
ईसाईधर्म के सब से गम्भीर तथा उदात्त विचार यूरोप में कभी
समझे नहीं गये, क्योंकि बाइबिल में उल्लिखित चिन्तन तथा
कल्पनाएँ उनके लिए विदेशी थीं। दृष्टान्त के लिए 'मैडोना' के

चित्रों को लो। हर कलाकार अपने मंडोना चित्र को अपनी पूर्व निश्चत धारणाओं के अनुकूल गढ़ता है। मैंने ईसा मसीह के 'अन्तिम व्यालू' के सैकडों चित्र देखे। सब में उन्हें मेज पर भोजन करते दिखाया गया है। किन्तु ईसा ने कभी मेज पर बैठना नहीं जाना। वे तो दूसरों के साथ जमीन पर पल्थी मारकर बैठते और एक ही कटोरे में सब अपनी-अपनी रोटियाँ डुबोते। उनकी रोटी वैसी नहीं थी, जैसी आजकल तुम लोग खाते हो। किसी भी राष्ट्र के लिए अपरिचित परम्पराओं को समझना मुश्किल होता है। शताब्दियों के परिवर्तन एवं ग्रीक, रोमन तथा अन्य जातियों से परस्पर संवर्द्धन के पश्चात् यूरोपवासियों के लिए तो यहूदियों की परम्पराओं को समझना और भी कठिन था। पौराणिक कथाओं एवं देवोपाख्यानों से परिवेष्टित ईसा मसीह के सुन्दर धर्म को अगर लोग अत्यंत थोड़ा समझ पाते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या ? फिर यदि लोगों ने उसे बाजारू रूप दे दिया, तो भी आश्चर्य क्या ?

अब हम अपने विषय पर आ जायँ। हम देखते हैं कि सभी धर्म कहते हैं कि आत्मा शाश्वत है और उसकी ज्योति धुंधली पड़ गयी है। किन्तु ईश्वर-ज्ञान के द्वारा उसकी आदिम पवित्रता को पुन: प्राप्त किया जा सकता है। आखिर विभिन्न धर्मों में ईश्वर के सम्बन्ध में धारणा क्या है? प्रारम्भिक अवस्था में ईश्वर के सम्बन्ध में बहुत ही अस्पष्ट धारणा थी। सबसे प्राचीन राष्ट्र अनेक देवताओं को मानते थे—जैसे सूर्य, पृथ्वी, अग्नि और जल। प्राचीन यहूदियों में हम ऐसे अनेक देवताओं का जिक्र पाते हैं, जो प्राय: आपस में भयानक रूप से लड़ा करते थे। इसके बाद हमें एलोहिम (Elohim) का वर्णन मिलता है,

जिसे यहूदी तथा बेबिलोनियानिवासी पूजते थे। तदुपरान्त सभी देवताओं के ऊपर एक देवाधिदेव की कल्पना की गयी। किन्तु यह धारणा भी भिन्न-भिन्न जातियों में भिन्न-भिन्न रूप में थी। प्रत्येक जाति अपने ईश्वर को सब से बड़ा मानती थी। और यह सिद्ध करने के लिए वे आपस में लड़ा करती थीं। जो जाति लड़ने में सब से अधिक कुशल होती, उसी का देवता सर्वश्रेष्ठ माना जाता। ये जातियाँ न्यूनाधिक रूप में बर्बर थीं। किन्तु समयानुसार अच्छे से अच्छे विचार पुरानी रूढ़ियों का स्थान लेते गये। फलस्वरूप अभी सारी पुरानी धारणाएँ या तो खत्म हो चुकी है, या खत्म हो रही हैं। किन्तु इस बात को नहीं भुलाया जा सकता कि इन सारे धर्मों का प्रादुर्भाव शताब्दियों के क्रमिक क स से हुआ है। इनमें से कोई भी आसमान से नहीं टपका। त्यक को तिल-तिल करके गढ़ा गया है। विकास की इस अवस्था के बाद एकेश्वरवाद की अवस्था आती है। एकेश्वरवाद एक ईश्वर में विश्वास करता है, जो सर्वशक्तिमान् है, सर्वज्ञ है तथा विश्व का एकमात्र प्रभु है। किन्तु ऐसा माना जाता है कि ईश्वर विश्वातीत है; वह स्वर्ग में रहता है। इस ईश्वर के चिन्तकों ने अपनी स्थूल धारणाओं के अनुकूल उसका स्वरूप-निरूपण किया; जैसे ईश्वर के दायें और बायें पक्ष का होना, उसके हाथ में एक चिड़िया का रहना, आदि आदि। किन्तु एक बात मार्के की यह है कि जंगली जातियों के सभी देवता सदा के लिए विलुप्त हो गये और देवाधिदेव एक ईश्वर ने उनकी जगह ले ली। यह एक ईश्वर विश्व से परे है और उसे पाया नहीं जा सकता; उसके पास कोई पहुच नहीं सकता। पर धीरे-धीरे यह विचार भी बदलता गया और विकास की अगली अवस्था आयी,

जिसमें ईश्वर को प्रकृति में व्याप्त माना गया।

नव व्यवस्थान में कहा गया है--'हमारे पिता जो स्वर्ग में हैं।'--यह ऐसे ईश्वर की कल्पना है, जो लोगों से दूर स्वर्ग में रहता है। हम धरती पर रहते हैं और वह स्वर्ग में। आगे चलकर यह उपदेश मिलता है कि ईश्वर प्रकृति मे व्याप्त है। वह केवल स्वर्ग में ही नहीं, प्रत्युत पृथ्वी पर भी है। वह हमारे भीतर भी हैं। हिन्दू दर्शन में ईश्वर और व्यक्ति के सान्निध्य की यह अवस्था देखने को मिलती है; किन्तु हम लोग यहीं नहीं रुकते। इसके आगे हम अद्वैतावस्था को भी कल्पना करते है, जिसमें आराधक यह अनुभव करता है कि उसका ईश्वर केवल स्वर्ग और पृथ्वो का परम प्रभु हो नहीं है, अपितु--'वह यह भी अनुभव करता है कि मैं और मेरे परम पिता एक ही हैं।' वह अपनी अन्तरात्मा में अनुभव करता है कि वह स्वय ईश्वर है, अन्तर इतना ही है कि वह ईश्वर की निम्न अभिव्यक्ति है। मेरे भीतर जो भी सत्य है, वह ईश्वर है और ईश्वर के भीतर जो सत्य है, वह मैं हूँ। इस तरह ईश्वर और व्यक्ति के बीच की खाई पट जाती है। इस तरह हम देखते हैं कि ईश्वरज्ञान के द्वारा हम स्वर्ग के साम्राज्य को अपने अन्दर ही पा लेते हैं।

पहली अवस्था में, अर्थात् द्वैतावस्था में मनुष्य समझता है कि वह लघु जीवात्मा मात्र है—जैसे वह जॉन है, जेम्स है अथवा टॉम है। वह कहता है--"मैं सदा जॉन, जेम्स या टॉम ही बना रहूँगा, कभी बदलूंगा नहीं।" यह कहना कुछ वैसा ही है, जैसे कि कोई हत्यारा आकर कहने लगे—"मैं सदा हत्यारा ही बना रहूँगा।" किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, टॉम का स्वरूप बदलता है और अन्त में तो वह शुद्ध 'आदम' रूप में लौट

जाता है।

'वे धन्य हैं, जिनका हृदय पवित्र है; क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे।' क्या हम ईश्वर को देख सकते हैं? निस्सन्देह नहीं। अगर ईश्वर को जाना जा सकता है, तो वह ईश्वर नहीं रह जायगा। क्योंकि किसी भी वस्तु का ज्ञान होना उसके सीमित होने को सिद्ध करता है। किन्तु ऐसा कहा जा सकता है कि 'मैं और मेरे पिता एक हैं।' 'मैं अपनी आत्मा में ही परम तत्त्व को पाता हूँ।' ये विचार कुछ धर्मों में स्पष्टतः कहे गये हैं, जब कि दूसरे धर्मों में इनकी ओर संकेत मात्र है। पर कुछ ऐसे धर्म हैं, जिनमें से इस विचार को निर्वासित ही कर दिया है। सच पूछो तो, इस देश में अब ईसा मसीह के धर्म को कम ही समझा जाता है। और अगर तुम क्षमा करो, तो भी कहूँगा कि कभी भी इस धर्म को यहाँ अच्छी तरह समझा नहीं गया।

वस्तुतः विकास की जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, वे पवित्रता एवं पूर्णता की प्राप्ति के लिए परमावश्यक हैं। मूलतः तो सभी धर्म एक ही धारणा पर आधारित हैं। ईसा मसीह एक जगह कहते हैं—"स्वर्ग का राज्य तो तुम्हारे अन्दर है।" वे दूसरी जगह कहते हैं—"हमारे परम पिता, जो स्वर्ग में रहते हैं।" इन दोनों कथनों में तुम किस तरह सामंजस्य कर पाते हो? वह ऐसे हो सकता है—जब उन्होंने दूसरे कथन को कहा, तो वे उन लोगों से बातें कर रहे थे, जो धर्म के मामले में बिल्कुल अज्ञ थे। यह जरूरी था कि वे उनसे उन्हीं की भाषा में बोलते। आम लोग तो ठोस विचार चाहते हैं, कुछ इस तरह का ठोस विचार, जिसे वे अपनी इन्द्रियों से सहज ही पकड़ सकें। कोई

मी बड़ा से बड़ा दार्शनिक होकर भी धर्म के क्षेत्र में निरा
ा हो सकता है। जब मनुष्य आध्यात्मिकता की काफी ऊँचाई
ा कर लेता है, तभी वह समझ सकता है कि वस्तुतः स्वर्ग
राज्य उसके अन्दर है, वही मन का सच्चा साम्राज्य है।
तरह हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्म में जो स्पष्टतः विरोधात्मक
भ्रमात्मक बातें दीखती हैं, वे उस धर्म के विकास की
स्थाओं का बोध कराती हैं। और इसलिए हमें किसी को
के धर्म के लिए दोष देने का अधिकार नहीं है। विकास की
ऐसी अवस्थाएँ होती हैं, जिनमें आकार एवं प्रतीकों का
ोग आवश्यक होता है, क्योंकि उन अवस्थाओं में आत्मा इसी
ह की भाषा समझ सकती है।

दूसरा विचार, जिसे मैं तुम लोगों के समक्ष रखना चाहता हूँ,
यह है कि धर्म केवल सिद्धान्त और मत की बात नहीं है।

गढ़ते हैं। कभी किसी ग्रन्थ ने ईश्वर की सृष्टि नहीं की;
हर महान् ग्रन्थ की सृष्टि की मूलभूत प्रेरणा अवश्य ही
है। इसी तरह हमें यह भी न भूलना चाहिए कि किसी
ने आत्मा की सृष्टि नहीं की। हर धर्म का परम उद्देश्य य
कि आत्मा में ही परमात्मा का दर्शन किया जाय। यही एक
सार्वभौमिक धर्म है। अगर सभी धर्मों में कोई एक सर्व
सत्य है, तो मैं कहूँगा कि वह है ईश्वर को पाना। आदर्श
साधन भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, पर मौलिक तथ्य यही
त्रिज्याएँ हजारों हो सकती हैं, पर वे सभी आकर एक केन्द्र-
पर मिलती हैं। और वह केन्द्र है—ईश्वर-प्राप्ति, जो हम
इन्द्रियों की दुनिया से परे है—खाने-पीने और निरर्थक बकव
की दुनिया से तथा झूठी विडम्बनाओं एवं स्वार्थ की दुनिया
परे है। वह—अपने आपमें ईश्वर का दर्शन—एक एसी चीज
जो पुस्तकों से परे है, मत-मतान्तरों से परे है तथा संसार
विडम्बनाओं से परे है। कोई आदमी संसार के सारे सम्प्रदा
में विश्वास करता हो, समस्त धर्मग्रन्थों का ज्ञान वहन करत
हो अथवा संसार की सभी पवित्र नदियों में स्नान कर पुण्य कम
चुका हो, पर यदि उसे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ है, तो
मैं उसे परले सिरे का नास्तिक मानूँगा। और यदि कोई कभी
किसी गिरजाघर या मस्जिद में न गया हो, न उसने कभी कोई
पूजादि कर्म किया हो, फिर भी अपने भीतर ईश्वर का अनुभव
करता हो और इस तरह संसार के आडम्बरों से ऊपर उठ चुका
हो, तो वह वस्तुतः सच्चा साधु है, चाहे तुम उसे जो भी कहो।
जब कोई आदमी खड़ा होकर कहने लगता है कि केवल वही
ीक रास्ते पर है अथवा केवल उसी का सम्प्रदाय सच्चा है और

अन्य सभी गलत हैं, तब वह अपने को ही सर्वथा गलत ठहराता है। उसे पता नहीं कि दूसरों के अस्तित्व को सिद्ध करने पर ही उसके अपने अस्तित्व की सिद्धि निर्भर करती है। मानव मात्र के लिए स्नेह और दया ही सच्ची धार्मिकता की परख है। मेरा मतलब उस भावुकतापूर्ण कथन से नहीं है—'सभी मनुष्य भाई भाई हैं'—परन्तु इससे है कि अनुभव किया जाय कि मनुष्य मात्र में एक ही जीवनधारा प्रवाहित होती है। मैं समझता हूँ कि जब तक वे ऐकान्तिक नहीं होते, सभी मत एवं सम्प्रदाय रे अपने हैं, और सभी भव्य हैं। वे सभी मनुष्य को सच्चे धर्म की ओर उन्मुख करने में सहायक होते हैं। मैं तो यह कहूँगा कि किसी सम्प्रदाय की छाया में पैदा होना अच्छा है, पर उसकी सीमाओं के भीतर ही मर जाना बुरा है। बच्चा पैदा होना अच्छा है पर सदा के लिए बच्चा ही रह जाना बुरा है। सम्प्रदाय, नियम और प्रतीक तो बच्चों के लिए ठीक हैं, पर जब बच्चा सयाना हो जाय, तो उसे चाहिए कि या तो वह सम्प्रदाय ही को अतिशय विस्तृत बना दे या स्वयं उससे बाहर चला आये। हमें सदा शिशु ही नहीं रहना है। यह बात तो कुछ इस ढंग की लगती है, जैसे बचपन के कोट को ही हर अवस्था में पहनने की कोशिश की जाय। ऐसा कहकर मैं किसी धर्म की निन्दा नहीं करता। मैं तो चाहता हूँ कि ईश्वर करे, दो करोड़ सम्प्रदाय और बढ़ जायें। क्योंकि जितने ही अधिक धर्म रहेंगे, चुनने के लिए उतना ही अधिक अवसर रहेगा। जिस बात पर मुझे आपत्ति है, वह है एक ही धर्म को सब के लिए ठीक समझा जाना। यद्यपि मूलतः सभी धर्म एक ही हैं, तो भी विभिन्न देशों की विभिन्न परिस्थितियों के कारण उनके बाह्य रूप में भिन्नता आ

ही जाती है। और जहाँ तक बाह्य स्वरूप का सम्बन्ध है,
से प्रत्येक को अपना-अपना व्यक्तिगत धर्म चुनना आवश्यक

बहुत वर्ष पूर्व मैंने अपने ही देश के एक बहुत बड़े मह
के दर्शन किये। हम लोगों ने अपने श्रुति-ग्रन्थ, वेदों तथा कु
बाइबिल आदि अन्य कई धर्मग्रन्थों की चर्चा की। जब बातें
हुईं, तो महात्मा ने मुझे मेज पर से एक किताब उठा लाने
कहा। उस किताब में दूसरी-दूसरी बातों के अलावा यह
लिखा था कि उस साल कितनी वर्षा होनेवाली थी। उस मह
ने कहा---इसे पढ़ो और मैंने पढ़ा कि कितनी वर्षा होने को
उन्होंने कहा---किताब लो और इसे निचोड़ो। मैंने वैसा
किया। तब उन्होंने कहा---जब तक पानी नहीं गिरता,
किताब कोरी किताब ही है, मात्र किताब। उसी तरह जब त
तुम्हारा धर्म ईश्वर-प्राप्ति नहीं करा देता, तब तक वह निरर्थ
है। जो व्यक्ति धर्म के लिए केवल किताबें पढ़ता है, उसक
हालत तो गल्पवाले उस गदहे की है, जो पीठ पर चीनी का भार
बोझ ढोता हुआ भी उसकी मिठास को नहीं जान पाता।

क्या लोगों से हमारा यह कहना उचित होगा कि घुटने टेककर
चिल्लाओ कि हम इतने बड़े पापी हैं? नहीं, नहीं बल्कि हम
उन्हें उनकी दैवी प्रकृति की याद दिला दें। मैं तुमसे एक कहानी
कहूँगा। एक सिंहिनी शिकार की टोह में भेड़ों के किसी गिरोह
के पास आयी। पर ज्यों ही वह अपने शिकार पर झपटी कि
उसे बच्चा हो गया और वह वहीं मर गयी। वह सिंह-शावक
भेड़ों के बीच ही पाला-पोसा गया। वह घास खाता और भेड़ों
की तरह में-में करके बोलता, क्योंकि उसे कभी यह ज्ञान ही नहीं
हुआ कि वह सिंह है। एक दिन एक दूसरा सिंह उधर से निकला।

एक भीमकाय सिंह को भेड़ों के बीच घास खाते और भेड़ों
तरह ही में-में करते देख उसे बहुत आश्चर्य हुआ। इस नये
को देख सभी भेड़ें भाग खड़ी हुईं और उनके साथ वह सिंह-
भी। किन्तु सिंह मौके को ताक में रहने लगा और एक
उसने सिंह-भेड़ को अकेला सोते पाया। उसने उसे जगाया
कहा, "तुम सिंह हो।" दूसरे सिंह ने जवाब दिया—"नहीं"
यह कह कर वह भेड़ों की तरह मिमियाने लगा। इस पर वह
सिंह उसके साथ एक झील के पास गया और कहा—"तुम
में देखो और बताओ कि क्या तुम्हारा चेहरा मुझसे मिलता-जु
नहीं है?" उसने वैसा ही किया और देखकर स्वीकार किया
हाँ, ठीक है। तब उस नये सिंह ने गरजना शुरू किया और
कहा कि तुम भी ऐसा करो। सिंह-भेड़ ने अपनी आवाज आजम
और फिर तो वह नये सिंह की ही भाँति विकराल रू
गरजने लगा। और तब से उसका भेड़पन जाता रहा।

मेरे मित्रो, मैं तो तुमसे यही कहूँगा कि तुम सभी बलः
सिंह हो।

अगर तुम्हारे कमरे में अंधेरा है, तो तुम छाती पीट-पी
यह तो नहीं चिल्लाते कि हाय, अँधेरा है, अँधेरा है, अँधेर
अगर तुम उजाला चाहते हो, तो एक ही रास्ता है। तुम
जलाओ और अँधरा अपने ही आप खत्म हो जायगा। ह
ऊपर जो प्रकाश है, उसे पाने का एक ही साधन है—तुम
भीतर का आध्यात्मिक प्रदीप जलाओ, पाप और अपवित्रत
तमिस्र स्वयं भाग जायगा। तुम अपनी आत्मा के उदात्त रू
चिन्तन करो, गर्हित रूप का नहीं।

———

तर्क और धर्म

(इंग्लैण्ड में दिया गया भाषण)

सत्य के विषय में शिक्षा पाने के लिए नारद नामक एक ऋषि दूसरे एक ऋषि सनत्कुमार के पास गये। सनत्कुमार ने उनसे पूछा कि आपने अभी तक क्या-क्या अध्ययन किया है। नारद ने उत्तर दिया कि मैंने वेद, ज्योतिष और इतर शास्त्र भी पढ़े हैं; तव भी उन्हें तृप्ति न मिली। तब दोनों में वार्तालाप शुरू हुआ, [illegible] के मध्य सनत्कुमार ने कहा कि वेद, ज्योतिष, दर्शन आदि [illegible]——अपरा विद्याएँ हैं, अन्य विज्ञान भी गौण हैं। जिसके द्वारा [illegible] का साक्षात्कार करते हैं, वही सर्वोच्च ज्ञान है, परा है। प्रत्येक धर्म में हम यही भाव पाते हैं और यही कारण है कि धर्म सदा परम ज्ञान होने का दावा करता है। विज्ञानों का ज्ञान जीवन के मानो कुछ ही अंशों पर प्रकाश डालता है। परन्तु धर्म जो ज्ञान हमें प्रदान करता है, शाश्वत है और वह धर्म द्वारा उपदिष्ट सत्य की ही भाँति असीम है। दुर्भाग्यवश अपनी इसी श्रेष्ठता के दावे के कारण धर्म लौकिक ज्ञान को प्राय: हेय दृष्टि से देखता है; यही नहीं, बल्कि उसने लौकिक ज्ञान की सहायता द्वारा अपने को युक्तिसंगत सिद्ध करना अनेक बार अस्वीकार किया है। फलत: संसार भर में धार्मिक तथा लौकिक ज्ञान में युद्ध होता रहा है। धर्म भ्रमातीत आप्तप्रमाण को अपना निर्देशक होने का दावा करता है और इस विषय पर लौकिक ज्ञान को जो कुछ कहना है, उसे सुनना नहीं चाहता तथा विज्ञान तर्क के अपने पैने शस्त्र द्वारा, धर्म जो कुछ प्रस्तुत करता

उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना चाहता है। प्रत्येक देश में यह
होता रहा है और इस समय भी हो रहा है। धर्म बारम्बार
जित और लगभग उच्छिन्न होते रहे हैं। मानव इतिहास में
स की क्रान्ति के समय बुद्धि की देवी की आराधना ही
ावता के इतिहास में इस व्यापार की प्रथम अभिव्यक्ति नहीं
वह तो जो प्राचीन काल में होता रहा है, उसी की पुनरावृत्ति
त्र थी, केवल आधुनिक युग में उसने बृहत्तर रूप ग्रहण कर
ग्रा है। भौतिक विज्ञान पहले की अपेक्षा अब अधिक सुसज्जित
और धर्म अधिकाधिक निरस्त्र होते गये हैं। सारी नींव ही
ध्वस्त हो गयी है; और आधुनिक मनुष्य, चाहे लोगों के बीच
जो कुछ भी क्यों न कहे, अपने हृदय के एकान्त में यह
नता है कि अब वह 'विश्वास' नहीं कर सकता। कतिपय
तों में इसलिए विश्वास करना कि पुरोहितों की कोई संगठित
स्था विश्वास करने के लिए कहती है, या ऐसा किसी ग्रन्थ में
खा है, या इसलिए विश्वास करना कि उनका समाज चाहता
—आधुनिक मनुष्य जानता है कि ऐसा कर पाना उसके लिए
सम्भव है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं, जो तथाकथित लोकप्रिय
र्म से सन्तोष कर लेते हैं, किन्तु हम अच्छी तरह जानते हैं कि
कुछ सोचते-विचारते नहीं हैं। उनकी 'आस्था' की धारणा
ो 'चिन्तनशून्य प्रमाद' ही कहा जा सकता है। धर्म के प्रासाद
चूर-चूर हुए विना यह युद्ध और आगे नहीं चल सकता।

अब प्रश्न उठता है, क्या बचने का कोई उपाय है? इस प्रश्न
ो और भी अच्छे ढंग से रखा जा सकता है: क्या धर्म को भी
वयं को उस बुद्धि के आविष्कारों द्वारा सत्य प्रमाणित करना
, जिसकी सहायता से अन्य सभी विज्ञान अपने को सत्य सिद्ध
रते हैं? वाह्य ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जिन अन्वेषण-पद्धतियों

का प्रयोग होता है, क्या उन्हें धर्म-विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया जा सकता है? मेरा तो विचार है कि ऐसा अवश्य होना चाहिए और मेरा अपना विश्वास भी है कि यह कार्य जितना शीघ्र हो, उतना ही अच्छा। यदि कोई धर्म इन अन्वेषणों के द्वारा ध्वंसप्राप्त हो जाय, तो वह सदा से निरर्थक धर्म था—कोरे अन्धविश्वास का, एवं वह जितनी जल्दी दूर हो जाय, उतना ही अच्छा। मेरी अपनी दृढ़ धारणा है कि ऐसे धर्म का लोप होना एक सर्वश्रेष्ठ घटना होगी। सारा मैल धुल जरूर जायगा, पर इस अनुसन्धान के फलस्वरूप धर्म के शाश्वत तत्त्व विजयी होकर निकल आयेंगे। वह केवल विज्ञानसम्मत ही नहीं होगा—कम से कम उतना ही वैज्ञानिक जितनी कि भौतिकी या रसायन-शास्त्र की उपलब्धियाँ हैं—प्रत्युत और भी अधिक सशक्त हो उठेगा; क्योंकि भौतिक या रसायनशास्त्र के पास अपने सत्यों को सिद्ध करने का अन्तःसाक्ष्य नहीं है, जो धर्म को उपलब्ध है।

जो लोग धर्म के क्षेत्र में बौद्धिक अन्वेषण की उपयोगिता मानने को प्रस्तुत नहीं हैं, वे मुझे कुछ-कुछ स्वविरोधी प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ ईसाई दावा करता है कि उसका धर्म ही सत्य है, क्योंकि वह अमुक में प्रकाशित हुआ था। मुसलमान अपने धर्म के लिए ही दावा करता है; क्योंकि वह अमुक में प्रकाशित हुआ था। परन्तु ईसाई मुसलमान से कहता है, "तुम्हारे आचारशास्त्र का कुछ अंश निर्दोष नहीं प्रतीत होता। उदाहरण स्वरूप, तुम्हारे ग्रन्थ कहते हैं, 'ऐ मेरे इस्लाम के दोस्त, काफिर को बलपूर्वक इस्लाम धर्म में दीक्षित कर लो, और अगर वह इस्लाम धर्म को इनकार करे, तो उसका कत्ल किया जा सकता है'। काफिर को मारनेवाला कोई भी मुसलमान बहिश्त में जरूर प्रवेश कर पायेगा—उसके पाप और दुष्कर्म जो भी रहे हों।"

मुसलमान इसका मुंहतोड़ जवाब देता है कि "ऐसा करना
लिए ठीक है, क्योंकि मरे धर्मग्रन्थों की यही हिदायत है
गलतो पर तब होता, जब ऐसा न करता।" ईसाई कहत
"परन्तु मेरी बाइबिल तो ऐसा निर्देश नहीं करती है !" मु
मान का उत्तर होता है, "मैं कुछ नहीं जानता; तुम्हारे धर्म
मेरे लिए आप्त वाक्य नहीं हैं; मेरे धर्मग्रन्थ का निर्देश है
काफिरों का वध कर दो। सही-गलत की पहचान तुम्हारे
है ? मेरे धर्मग्रन्थ में लिखी बातें ही सहो हैं। और तुम्हारे
ग्रन्थ का यह निर्देश 'प्राण न लो' गलत है। मेरे ईसाई द
तुम भी तो यही हो; तुम्हारा कथन है कि जिहोवा ने यहू
से जो कुछ करने को कहा, वह ठीक है, जिसका उन्होंने f
किया, वह गलत है। यही मेरा भी कहना है, मेरे ग्रन्थ में अ
की घोषणा है कि कुछ चीजें की जानी चाहिए और कुछ
और यही सही-गलत की कसौटी है।" इतने पर भी
सन्तुष्ट नहीं। वह नैतिक आदर्श की दृष्टि से 'शैलोपदेश
तुलना 'कुरान शरीफ की आयतों' से करने का हठ करता
इसका फैसला हो कैसे ? ग्रन्थ-प्रमाण से तो यह सम्भव
क्योंकि आपस में झगड़नेवाले धर्मग्रन्थ निष्पक्ष निर्णायक
हो सकते हैं। अतः हमें निश्चय ही स्वीकार करना होगा वि
ग्रन्थों से परे कोई ऐसा तत्त्व है, जो अधिक सार्वभौमिक है
ससार में प्रचलित नीति-संहिताओं से भी अधिक उदात्त है
विविध राष्ट्रों के अन्तःस्फुरणों के बलाबल का निर्णय कर
समर्थ है। भले ही उसे हम साहस एवं स्पष्टता के साथ घ
करें या न करें, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि यहाँ हम बुि
ही सहारा लेते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या बुद्धि का आलोक विभिन्न

स्फुरणों की यथार्थता का निर्णय करने में समर्थ है, क्या वह पैगम्बरों के झगड़े की मध्यस्थता करते समय अपने आदर्श रक्षा कर पायेगी, क्या धर्म के तत्त्वों की परख करनेवाली शा उसमें है? अगर उसमें ये योग्यताएँ नहीं हैं, तो युग-युग से ध ग्रन्थों और धर्मदूतों के मध्य होते आये निरर्थक विवादों निर्णय कदापि सम्भव नहीं; क्योंकि इसका निष्कर्ष यही है समस्त धर्म मिथ्या हैं, और कोरे परस्पर-विरोधी हैं; जिन पास आचरण-सम्बन्धी कोई भी नियत सिद्धान्त नहीं हैं। ध का प्रमाण किसी ग्रन्थ पर नहीं, मनुष्य की रचना की सत्यता प न ़र है। ग्रन्थ तो मनुष्य की रचना के बहिर्गमन हैं, परिणा ; मनुष्य ही इन ग्रन्थों के प्रणेता हैं। मनुष्य का निर्माण क ाले ग्रन्थों के दर्शन अभी हमें करना है। बुद्धि भी उस कारण, मानव की संरचना का ही परिणाम है; औ वहीं हमें न्याय की याचना के लिए जाना पड़ेगा और चूंकि केवल बुद्धि का ही इस संरचना से सीधा सम्बन्ध है, इसलिए जब तक वह उसका अनुगमन करती रहती है, तब तक उसी की शरण में हमें जाना पड़ेगा। बुद्धि से मेरा आशय क्या है? मेरा आशय वही है, जो आज का हर शिक्षित स्त्री या पुरुष करना चाहता है, अर्थात् लौकिक ज्ञान के आविष्कारों को धर्मक्षेत्र में प्रयुक्त करना। बुद्धि का आदि तत्त्व है, विशेष की सामान्य से सामान्य की अधिक सामान्य से, अन्ततः सार्वभौम सामान्य प्राप्त होने तक व्याख्या करना। उदाहरणार्थ हममें विधान या नियम की धारणा है। यदि कहीं कुछ घटित हो और हमें यह विश्वास हो जाय कि यह घटना किसी नियम का परिणाम है, तो हम सन्तुष्ट हो जाते हैं; यह हमारे लिए उसकी व्याख्या है। इस व्याख्या से हमारा यह आशय सिद्ध हो गया कि यह एक परिणाम,

दरबों में से उसकी समानधर्मी वस्तु को खोजने का प्रयत्न करता है। यदि हमें यह वस्तु मिल गयी, तो हम इस नये प्रत्यय को वहीं रख देते हैं और हमें सन्तोष प्राप्त हो जाता है। तब यह कहा जाता है कि हमें तद्विषयक जानकारी हो गयी। यही ज्ञान का अर्थ है, इससे अधिक कुछ नहीं। यदि हमें मस्तिष्क की इन निधियों में समानधर्मी कोई वस्तु नहीं मिलती, तो हम असन्तुष्ट हो जाते हैं, और हम तब तक प्रतीक्षा करते हैं, जब तक मस्तिष्क में विद्यमान कोई नया वर्गीकरण न प्राप्त हो जाय। इसलिए, जैसा पहले कहा गया है, ज्ञान कमोबेश वर्गीकरण का पर्याय है। सके अतिरिक्त भी कुछ और है। ज्ञान की एक दूसरी व्याख्या जिसमें किसी वस्तु या विचार की व्याख्या बाहर से न होकर र से प्राप्त होती है। ऐसा विश्वास किया जाता था कि जब दमी पत्थर ऊपर फेंकता है, तो एक दैत्य उसे नीचे खींच लेता है। अनेक घटनाओं को, जो यथार्थतः प्राकृतिक हैं, लोग अप्राकृतिक शक्तियों द्वारा घटित मानते हैं। पत्थर नीचे गिरानेवाला कोई दैत्य था, यह एक ऐसी व्याख्या थी, जो वस्तुगत नहीं थी, इसकी व्याख्या बाह्यारोपित है। गुरुत्वाकर्षण की दूसरी व्याख्या पत्थर के सहज धर्म पर आधारित है, वह भीतर से प्राप्त होती है। समस्त आधुनिक चिन्तन-धारा में तुम्हें यही प्रवृत्ति दिखायी पड़ेगी। संक्षेप में, विज्ञान का अभिप्राय है कि किसी वस्तु की व्याख्या स्वयं उसकी प्रकृति में निहित है और सृष्टि में घटित होनेवाली घटनाओं की व्याख्या किसी बाह्य सत्ता या शक्तियों पर आश्रित नहीं है। रसायनशास्त्री को अपने तथ्यनिरूपण में किसी दैत्य, भूत, प्रेत आदि की आवश्यकता नहीं है। भौतिक शास्त्री या अन्य वैज्ञानिक अपने तत्त्व प्रतिपादन में इस प्रकार की वस्तुओं पर निर्भर नहीं है। और विज्ञान का एक यही

विशेष अंग है, जिसे मैं धर्मक्षेत्र में प्रयुक्त करना चाहता हूँ। इस वैशिष्टय से वंचित रहने से ही धर्म जीर्ण-शीर्ण हो रहे हैं। प्रत्येक विज्ञान अपनी व्याख्या को भीतर से प्राप्त करना--वस्तुधर्मी बनाना--चाहता है और धर्म ऐसा करने में असमर्थ है। विश्व से पूर्णतया पृथक् व्यक्तिविशेष ईश्वर की सत्ता एक प्राचीन मत है, जो अति आदिकाल से ही स्वीकृत होता आया है। इसके समर्थन में युक्तियों की पुनरावृत्ति बराबर होती रही है, किस प्रकार यह आवश्यक है कि एक ऐसे ईश्वर की सत्ता स्वीकार की जाय, जो विश्व से पृथक है, जो विश्व की व्याप्ति से परे है, जिसने अपनी इच्छा से विश्व का सृजन किया है, जिसकी कल्पना धर्म शासक के रूप में करता है। इन सब तर्कों के बावजूद हम देखते हैं कि सर्वशक्तिनिधान ईश्वर करुणा-निधान संज्ञा से भूषित है, और साथ ही साथ ससार की विषमताएँ भी बनी हुई हैं। दार्शनिक को इन सब चीजों से कोई सरोकार नहीं, परन्तु वह कहता है कि यह सिद्धान्त मूलतः गलत है, यह व्याख्या वस्तु की अपनी प्रकृति पर आश्रित न होकर बाह्याधारित है। विश्व का मूल कारण क्या है? इससे परे कोई शक्ति है, कोई सत्ता जो इस विश्व का संचालन कर रही है! जिस प्रकार पत्थर गिरने के तथ्य की व्याख्या युक्ति युक्त प्रतीत नहीं हुई, उसी प्रकार धर्म की उनकी यह व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं हो सकी। और धर्म इससे अधिक अच्छा व्याख्या देने मे असमर्थ होने के कारण ढहे जा रहे हैं।

का ही दूसरा रूप है, कारण में ही कार्य की सारी सम्भाव
विद्यमान हैं, सारी सृष्टि विकास का परिणाम है, सृजन का न
अर्थात् हर कार्य पूर्ववर्ती कारण की आवृत्ति मात्र है, परिस्थि
वश रूप-परिवर्तन होता है, और सम्पूर्ण सृष्टि में यही सिद्ध
लागू है। यह प्रत्यक्ष है, एवं हमें इन परिवर्तनो के कारण
खोज में सृष्टि से बाहर जाने की जरूरत नहीं। कार्य में
कारण-शृंखला विद्यमान है। बाहर किसी कारण की खोज कर
अनावश्यक है। यह भी धर्म की आधारशिला को धक्का देनेवा
हुआ। धर्म शक्तिहीन पड़ रहे हैं, इससे मेरा इतना ही आशय
कि जो धर्म सृष्टि से परे किसी देवी-देवता की धारणा से चिप
हुए हैं, और जो यह मानते आये हैं कि वह एक महामानव
और कुछ नहीं, वे धर्म अब अपने पैरों पर खड़े नहीं रह सक
वे मानो आधारहीन से हो गये हैं।

क्या ऐसा भी कोई धर्म हो सकता है, जो इन दोनों तत्त्वों
मण्डित हो? मेरा विश्वास है कि वैसा धर्म हो सकता है। हम दे
चुके हैं कि पहले हमें उस सामान्यीकरण के सिद्धान्त को सन्तुष्
करना होगा। विकासवाद के सिद्धान्त के साथ भी सामान्यीकरण
के सिद्धान्त को संगत होना चाहिए। हमें अन्त में एक चरम
सामान्यीकरण के सिद्धान्त की शरण में जाना पड़ेगा, जो केवल अन्य
सभी सामान्यों में सब से अधिक सर्वव्यापक न होगा, वल्कि जिससे
अन्य सभी कुछ निकला होगा। वह निम्नतम कार्य या परिणाम की
ही प्रकृति का होगा। कारण--उच्चतम, अन्तिम आदिम कारण
और उसके निम्नतम और अति दूरवर्ती परिणाम--विकासों की
शृंखला, दोनों ही समान होगा। वेदान्त-प्रतिपाद्य ब्रह्म इस मत
को पूर्ण करता है, क्योंकि जिस अन्तिम सामान्यीकरण में हम

पहुँच सकते हैं, वह ब्रह्म ही हो सकता है। वह गुणातीत है, किन्तु सत्, चित्, आनन्दस्वरूप--निरपेक्ष है। मानवीय चेतना की पहुँच जिस अन्तिम सामान्यीकरण तक हो सकती है, वह यही 'सत्' है। 'चित्' सामान्य ज्ञान नहीं, किन्तु उस तत्त्व का मूल है, जो अपने को विकास-क्रम के अनुसार प्राणियों एवं मानवों में ज्ञान के रूप में अभिव्यक्त कर रहा है। उस ज्ञान के सार को यदि चेतना से भी परे एक अन्तिम तथ्य कहा जाय तो भी अनुचित न होगा। ज्ञान का असली आशय यही है, एवं सृष्टि में वस्तुओं के मूलभूत एकत्व के रूप में हम इसी को पाते हैं। मेरी समझ में आधुनिक विज्ञान जिस तथ्य का बार-बार पुष्टीकरण कर रहे हैं, वह यह है कि हम सब 'एक' हैं--मन, देह, आत्मा, तीनों में। यह भी भ्रामक विचार है कि हम देह-रचना की दृष्टि से पृथक् हैं। तर्क करने के लिए मान लिया कि हम जड़वादी हैं, फिर भी हमें मानना पड़ेगा कि सम्पूर्ण सृष्टि केवल जड़सागर है, हम और तुम सब जिसकी छोटी-छोटी भँवरें हैं। जड़पुंज हर भँवर में आ मिलते हैं, भँवर का रूप धारण करते हैं और पुनः जड़ के रूप में निकलते रहते हैं। यह हो सकता है कि मेरी देह का जड़ पदार्थ कुछ वर्षों पूर्व तुम्हारी देह में या सूर्य में या किसी पौधे में या अन्य किसी में सदा परिवर्तनशील अवस्था में रहा होगा। मेरी देह और तुम्हारी देह--इसका तात्पर्य क्या है? यह तो देह का एकत्व मात्र है। विचार का भी यही हाल है। यह विचार-सागर है, एक असीम राशि है, जिसमें मेरा और तुम्हारा मन उनकी भँवरों के समान हैं। क्या अभी भी उसका प्रभाव तुम्हें विदित नहीं हो रहा है, कैसे मेरे विचार तुम्हारे मन और तुम्हारे विचार मेरे मन में प्रविष्ट हो रहे हैं? हमारा

सम्पूर्ण जीवन एक है, हम सब एक हैं, विचार की दृष्टि से
इससे भी व्यापक स्तर पर सामान्यीकरण करने से ज्ञात होत
कि जड़ पदार्थ और विचार का सार उनमें अन्तर्भूत आत्मा
यही वह एकत्व है, जहाँ से सब का उद्भव हुआ है और
अनिवार्यतः एक होना चाहिए। हम पूर्णतया एक हैं, हम भौ
रूप से एक हैं, मानसिक रूप से एक हैं, और स्पष्टतः आत्
दृष्टि से एक तो हैं ही---बशर्ते कि आत्मा में हमारी आस
हो। यही एकत्व वह तथ्य है, जिसे आधुनिक विज्ञान दिनानुदि
प्रमाणित कर रहा है। गर्वित मनुष्य से कहा जाता है कि तु
वही हो, जो एक साधारण कीट है। यह न सोचो कि तुम उस
पूर्णतया भिन्न हो; तुम वही हो। पिछले जन्म में तुम वही र
। और कीट ही रेंगते-रेंगते इस नर-देह को प्राप्त कर गया है
जिस पर तुम्हें इतना गर्व है। इस सर्व समभाव का उपदेश, सृष्टि
के जड़-चेतन एवं हमारे बीच एकात्मता की यह पुष्टि अवश्य ही
महती उपलब्धि है, जिससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है, क्योंकि
हममें से अधिकांश अपने से महत्तर प्राणियों के साथ एक हो
जाने में बड़े हर्ष का अनुभव करते हैं, किन्तु कोई भी निम्नतर
प्राणियों के साथ एकात्मता की आकांक्षा नहीं करता। मानवीय
अज्ञानता ऐसी है कि हममें से हर कोई अपने को उन्हीं पूर्वजों
की सन्तान बताने का प्रयत्न करता है, जिन्हें सामाजिक सम्मान
प्राप्त रहा हो, भले ही वे उजड्ड, लुटेरे या लुटेरों के सरदार ही
क्यों न रहे हों, किन्तु हममें से कोई भी अपने को उन पुरखों की
सन्तान नहीं मानना चाहेगा, जो गरीब, लेकिन ईमानदार सत्पुरुष
रहे हों। किन्तु आज परखने का हमारा मानदण्ड बदलता जा
रहा है, सत्य अपने को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने लगा है,
और धर्म के क्षेत्र में यह सचमुच एक महान् लाभ है। अद्वैत का

भी लक्ष्य बिल्कुल यही है, जो आज मेरे प्रवचन का विषय है। आत्मा इस जगत् का सार-तत्त्व है, समस्त जीवों का केन्द्र-स्थल है, 'वह' तुम्हारे अपने जीवन का सार है, इतना ही नहीं, तुम 'वही' हो, तत्त्वमसि। तुम विश्व के साथ एक हो। जो अपने को दूसरों से जरा भी, बाल की नोक के बराबर भी अलग मानता है, वह तत्काल ही दुःखी हो जाता है। जो इस एकत्व भाव का, सृष्टि मे एकत्व का अनुभव करता है, वही सुख का अधिकारी होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामान्यीकरण की चरम परिणति और विकासवाद के सिद्धान्त को निर्दिष्ट करते हुए वेदान्त धर्म विज्ञान-जगत् की माँगों को पूरा कर सकता है। वस्तु की व्याख्या उसकी प्रकृति में निहित है, इस सिद्धान्त को वेदान्त पूर्णरूपेण

दानन्द-सागर के क्षुद्र अंश हैं, क्षुद्र बिन्दु हैं, क्षुद्र धाराएँ ; क्षुद्र अभिव्यक्तियाँ हैं और उसी में हमारा निवास है। व्यक्ति व्यक्ति, देव-मानव, मानव-पशु, पशु-पौधे, पौधे-शिलाएँ आ में जो भेद है, वह तत्त्वतः नहीं है, परिणामतः है, क्योंकि महत्त देव से लेकर जड़ के क्षुद्रातिक्षुद्र कण तक सभी उसी असी सागर की अभिव्यक्तियाँ हैं। हो सकता है कि मैं उसकी ए क्षुद्र अभिव्यक्ति हूँ और तुम उच्च। किन्तु दोनों में उपादा एक ही है। हम दोनों एक ही स्रोत---ईश्वर की धाराएँ हैं इसलिए हमारी-तुम्हारी प्रकृति ईश्वरीय है। जन्मसिद्ध अधिका से तुम स्वरूपतः ईश्वर हो; वैसा ही मैं भी हूँ। हो सकता है कि तुम पवित्रता के दिव्य प्रतीक हो और मैं दैत्यों मे भी सब से क्रूर दैत्य हूँ; फिर भी अनन्त सच्चिदानन्द-सागर मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है; इसी प्रकार तुम्हारा भी। आज तुम अपने को अधिक अभिव्यक्त कर सके हो ! किन्तु ठहरो, मैं भी अब अपने को उससे अधिक अभिव्यक्त करूँगा, क्योंकि वे सारी सम्भावनाएँ मुझमें हैं। किसी बाह्य व्याख्या की आवश्यकता नहीं है : ऐसी व्याख्या की कोई उत्सुकता भी नहीं। चराचर सृष्टि पूर्णतया स्वयं ईश्वर ही है। तो क्या ईश्वर भौतिक जड़ है ? नहीं, कदापि नहीं। जड़ वह ईश्वर है, जो पाँचों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है; बुद्धि के माध्यम से जाना ईश्वर मन है; और जब आत्मा उसे प्रत्यक्ष करती है, तो वह आत्मा के रूप में ही दृष्ट होता है। वह जड़ नहीं अपितु जड़ में निहित यथार्थ सार-तत्त्व है। इस कुर्सी का यथार्थ स्वरूप वही है, क्योंकि कुर्सी की रचना के लिए दो चीजें आवश्यक हैं। कुछ बाहरी तत्त्व थे, जिनका बोध मुझे इन्द्रियों द्वारा हुआ, और इस बोध में मन का भी कुछ अंश शामिल है, और इन दोनों के योग से ही कुर्सी की सत्ता बनी।

जो शाश्वत 'सत्' है, इन्द्रियों और बुद्धि से परे, वह स्वयं ईश्वर ही है। उसी सत्-स्वरूप ईश्वर पर इन्द्रियाँ कुर्सी, मेज, कमरे, घर, लोक, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र आदि का चित्र बना रही हैं। ऐसी दशा में क्या कारण है कि हम सब यही एक कुर्सी देखते हैं और ईश्वर अर्थात् सच्चिदानन्द पर विविध वस्तुओं को हम समान रूप से चित्रित करते हैं? यह कोई जरूरी नहीं कि हर कोई एक सा रंग-रूप दे, लेकिन जो एक सा रंग-रूप देते हैं वे सभी एक ही अस्तित्व स्तर पर हैं और इसलिए वे एक दूसरे को तथा एक दूसरे के चित्र भी देखते हैं। ऐसे लाखों प्राणी हमारे-तुम्हारे बीच होंगे, जो एक ढंग से ईश्वर को चित्रित नहीं करते हैं, और हम उनके चित्र को एवं उन्हें देखते नहीं हैं।

इसके विपरीत, जैसा कि तुम सब जानते हो, आधुनिक भौतिक अन्वेषकों की प्रवृत्ति अधिकाधिक यही प्रमाणित करने में व्यस्त है कि जो सत् है, वह सूक्ष्म ही है; स्थूल तो केवल आभास है। इसका जो भी प्रयोजन हो, हमें तो स्पष्ट हो गया है कि आधुनिक तर्क-पद्धति की कसौटी पर खरा उतरनेवाला अगर कोई धर्म-सिद्धान्त हो सकता है, तो वह अद्वैत ही है, क्योंकि यही इसकी दोनों आवश्यक मान्यताओं को पूरा करता है। यह सामान्यीकरण चरम तत्त्व है, व्यक्तित्व से भी यह परे है और प्रत्येक प्राणी में सामान्य रूप से विद्यमान है। सामान्यीकरण का यह सिद्धान्त तो सगुण ईश्वर तक ही पहुँच पाता है, कभी भी व्यापक नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि सगुण ईश्वर की धारणा के लिए पहले यह मानना होगा कि वह पूर्ण दयामय, मंगलमय आदि है लेकिन यह संसार तो शुभ और अशुभ का एक मिश्रण है। हम अपनी इच्छानुसार किसी तथ्य को पृथक् कर लेते हैं,

और उसे सामान्यीकरण-प्रक्रिया से सविशेष या सगुण ईश्वर का रूप दे देते हैं ! जैसे तुम कहते हो कि सगुण ईश्वर 'यह' है, 'वह' है, वैसे ही तुम्हें यह भी कहना पड़ेगा कि 'यह' नहीं है, 'वह' नहीं है । इस तरह तुम यह सदा पाओगे कि सगुण ईश्वर की भावना के साथ-साथ सगुण शैतान की भी धारणा जुड़ी रहेगी । इस तरह हमें यह स्पष्ट है कि सगुण ईश्वर की धारणा यथार्थ सामान्यीकरण का फलस्वरूप नहीं है । अतः हमें उससे परे जाना पड़ेगा, निर्गुण का सहारा लेना होगा । उसी निर्गुण में समस्त सुख-दुःख के साथ सृष्टि की सत्ता है, क्योंकि उसमें जो कुछ है, वह सब निर्गुण का ही परिणाम है । वह ईश्वर कैसा हो सकता है, जिसे हमें अशुभ एव अन्य वस्तुओं का पात्र ठहराना पड़े ? वस्तुतः बात यह है कि शुभ और अशुभ, एक ही सत्ता के दो भिन्न पक्ष या अभिव्यक्तियाँ हैं । इन दोनों के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति आरम्भ से ही भ्रामक सिद्ध हुई । भले-बुरे को—शुभ-अशुभ को——पूर्णतया स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता मानने और इन दोनों को शाश्वत रूप से विच्छेद्य मानने का यही परिणाम हुआ कि हमारा यह जगत् अधिक कष्टमय हो उठा । मुझे ऐसे सज्जन से मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी, जो मुझे ऐसी वस्तु बतला सकें, जो शाश्वत रूप से शुभ और शाश्वत रूप से अशुभ हो । जैसे कोई खड़ा होकर इस जीवन की कुछ घटनाओं को शुभ, केवल शुभ और कुछ को अशुभ, केवल अशुभ सिद्ध कर सकता हो । आज जो शुभ है, कल वही अशुभ हो सकता है । आज जो बुरा दिखता है, कल वही भला दिख सकता है । मेरे लिए जो शुभ है, वह तुम्हारे लिए अशुभ हो सकता है । सारांश यह कि अन्य सृष्टि-व्यापारों की तरह शुभ-अशुभ में भी एक निर्दिष्ट विकास-परम्परा है । कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्हें हम उनकी

विकास-परम्परा के एक स्थल पर शुभ एवं दूसरे स्थल पर अशुभ कहते हैं। तूफान, जो मेरे साथी की मृत्यु का कारण बना, मेरे लिए बुरा है, लेकिन हवा के विषैले कीटाणुओं के संहार द्वारा लाखों नर-नारियों की प्राण-रक्षा का कारण भी वही रहा होगा। उनकी दृष्टि से वह भला है, लेकिन मैं उसे बुरा कहता हूँ। अतः शुभ-अशुभ, दोनों सापेक्ष जगत्--व्यक्त विश्व के ही अंग ठहरते हैं। हम जिस निर्विशेष या निर्गुण ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, वह सापेक्ष तत्त्व नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह शुभ है या अशुभ है, बल्कि वह दोनों से परे है, क्योंकि न तो वह शुभ ही है और न अशुभ ही। हाँ शुभ, अशुभ की अपेक्षा 'उसकी' निकटतम अभिव्यक्ति है।

ऐसी निर्गुण या निर्विशेष सत्ता या निर्गुण इष्ट देवता को स्वीकार करने का परिणाम क्या है? इससे हमें क्या लाभ होगा? क्या धर्म मानव-जीवन का एक अंग बन सकेगा, क्या यह हमें कोई सान्त्वना या सहायता दे सकेगा? मानव अन्तः-करण की उस आकांक्षा का क्या होगा, जो किसी सत्ता से सहायता के लिए प्रार्थना करती है? यह सब रहेगा। साकार ईश्वर भी रहेगा, किन्तु एक सुदृढ़ आधारशिला पर। उसे निर्विशेष से बल प्राप्त होगा। हमने देखा कि निर्गुण के बिना सगुण नहीं टिक सकता। यदि तुम्हारा यह तात्पर्य है कि एक ऐसी सत्ता है, जो इस संसार से पूर्णतया पृथक् है और अपनी इच्छा द्वारा उसने शून्य से विश्व की सृष्टि की है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की स्थिति असम्भव है। लेकिन यदि हमें निर्विशेष का बोध हो जाय, तो सविशेष, साकार की धारणा भी बनी रह सकती है। यह नाम-रूपात्मक जगत् अपने

विविध रूपों में उसी 'निर्विशेष' का विविध पाठ है। जब पंचेन्द्रियों के सहारे उसका पाठ करते हैं, उसे हम भौतिक ज: कहते हैं। यदि पाँच से अधिक इन्द्रियोंवाला कोई हो, तो : निर्विशेष उसे किसी और रूप में भासित होगा। यदि हममें कोई विद्युत् की संवेदनशीलता प्राप्त कर ले, तो उसे जगत् : बोध सर्वथा भिन्न होगा। 'एकत्व' के विविध व्यक्त रूप हो हैं। इन विविध लोकों की कल्पनाएँ भी उसी के विविध पाठ मा हैं, और मानव-बुद्धि केवल ऐसे सविशेष या सगुण ईश्वर त पहुँच सकती है, जो निर्विशेष या निर्गुण का चरम पाठ है। अत जिस अर्थ में यह कुर्सी सत्य है, यह लोक सत्य है, उसी अर्थ सगुण ईश्वर भी सत्य है, इससे अधिक उसका कोई अर्थ नहीं ९ पूर्ण सत्य नहीं। अर्थात् सगुण ईश्वर वही निर्गुण ईश्वर है और उसी अर्थ में सत्य है, जिस अर्थ में एक साथ ही मानव वे रूप में मैं सत्य भी हूँ और सत्य नहीं भी। यह सत्य नहीं है कि मुझे तुम जिस रूप में देख रहे हो, वहीं मैं हूँ; तुम इस विषय में अपने को सन्तुष्ट कर सकते हो। जिस रूप में तुम मुझे ग्रहण करते हो, वही मेरा रूप नहीं। तुम्हारे तर्क का भी इससे परितोष हो सकता है। क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में जो मेरा रूप है, वह प्रकाश, स्वर-लहरियों, वातावरण की गतिविधियों के अन्दर रहनेवाली हलचलों आदि का ही तो संघात है। यदि उक्त उपादानों में एक भी बदल जाय, तो मैं कुछ और हो जाऊँगा। प्रकाश की विभिन्न अवस्थाओं में एक ही व्यक्ति का फोटो खींचकर तुम्हें इस विषय पर सन्तोष हो जायगा। अतः तुम्हारी इन्द्रियों के सम्पर्क से मैं जिस प्रकार प्रतीत होता हूँ, वही मैं हूँ; एवं इतने पर भी इन सारे तथ्यों के बावजूद एक ऐसा अपरि

वर्तनीय तत्त्व है, जिसके विभिन्न अस्तित्व-स्तर ही गोचर वस्तुएँ हैं, यह है निर्विशेष 'अहं'। हजारों 'अहं' इसी के विभिन्न व्यक्ति-रूप हैं। मैं शिशु था, मैं युवा था और मैं अब वृद्ध होता जा रहा हूँ। जीवन में प्रतिपल मेरे शरीर और विचार बदल रहे हैं, लेकिन इन सब परिवर्तनों के बावजूद उनका समष्टि-रूप एक स्थायी एवं नियत इकाई है। निर्विशेष अहं वही है और ये सारे गोचर रूप-भेद मानो उसी के विभिन्न अंश हैं।

इसी प्रकार हमें विदित है कि विश्व का समष्टि-रूप अचल है, लेकिन इस विश्व से सम्बद्ध सारे तत्त्व गति से बने हैं, प्रत्येक वस्तु सतत परिवर्तन की अवस्था में है; सब कुछ सदा बदल रहा है, गतिमान है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्माण्ड अपने समग्र रूप में अचल है, क्योंकि गति सापेक्ष पद है। मैं गतिहीन कुर्सी की सापेक्षता में गतिशील हूँ। गति को सम्भव

विविध रूपों में उसी 'निर्विशेष' का विविध पाठ है। जब हम पंचेन्द्रियों के सहारे उसका पाठ करते हैं, उसे हम भौतिक जगत् कहते हैं। यदि पाँच से अधिक इन्द्रियोंवाला कोई हो, तो यह निर्विशेष उसे किसी और रूप में भासित होगा। यदि हममें से कोई विद्युत् की संवेदनशीलता प्राप्त कर ले, तो उसे जगत् का बोध सर्वथा भिन्न होगा। 'एकत्व' के विविध व्यक्त रूप होते हैं। इन विविध लोकों की कल्पनाएँ भी उसी के विविध पाठ मात्र हैं, और मानव-बुद्धि केवल ऐसे सविशेष या सगुण ईश्वर तक पहुँच सकती है, जो निर्विशेष या निर्गुण का चरम पाठ है। अतः जिस अर्थ में यह कुर्सी सत्य है, यह लोक सत्य है, उसी अर्थ में सगुण ईश्वर भी सत्य है, इससे अधिक उसका कोई अर्थ नहीं। ृह पूर्ण सत्य नहीं। अर्थात् सगुण ईश्वर वही निर्गुण ईश्वर है, और उसी अर्थ में सत्य है, जिस अर्थ में एक साथ ही मानव के रूप में मैं सत्य भी हूँ और सत्य नहीं भी। यह सत्य नहीं है कि मुझे तुम जिस रूप में देख रहे हो, वहीं मैं हूँ; तुम इस विषय में अपने को सन्तुष्ट कर सकते हो। जिस रूप में तुम मुझे ग्रहण करते हो, वही मेरा रूप नहीं। तुम्हारे तर्क का भी इससे परितोष हो सकता है। क्योंकि तुम्हारी दृष्टि में जो मेरा रूप है, वह प्रकाश, स्वर-लहरियों, वातावरण की गतिविधियों के अन्दर रहनेवाली हलचलों आदि का ही तो संघात है। यदि उक्त उपादानों में एक भी बदल जाय, तो मैं कुछ और हो जाऊँगा। प्रकाश की विभिन्न अवस्थाओं में एक ही व्यक्ति का फोटो खींचकर तुम्हें इस विषय पर सन्तोष हो जायगा। अतः तुम्हारी इन्द्रियों के सम्पर्क से मैं जिस प्रकार प्रतीत होता हूँ, वही मैं हूँ; एवं इतने पर भी इन सारे तथ्यों के बावजूद एक ऐसा अपरि

वर्तनीय तत्त्व है, जिसके विभिन्न अस्तित्व-स्तर ही गोचर वस्तुएँ हैं, यह है निर्विशेष 'अहं'। हजारों 'अहं' इसी के विभिन्न व्यक्ति-रूप हैं। मैं शिशु था, मैं युवा था और मैं अब वृद्ध होता जा रहा हूँ। जीवन में प्रतिपल मेरे शरीर और विचार बदल रहे हैं, लेकिन इन सब परिवर्तनों के बावजूद उनका समष्टि-रूप एक स्थायी एवं नियत इकाई है। निर्विशेष अहं वही है और ये सारे गोचर रूप-भेद मानो उसी के विभिन्न अंश हैं।

इसी प्रकार हमें विदित है कि विश्व का समष्टि-रूप अचल है, लेकिन इस विश्व से सम्बद्ध सारे तत्त्व गति से बने हैं, प्रत्येक वस्तु सतत परिवर्तन की अवस्था में है; सब कुछ सदा बदल रहा है, गतिमान है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि ब्रह्माण्ड अपने समग्र रूप में अचल है, क्योंकि गति सापेक्ष पद है। मैं गतिहीन कुर्सी की सापेक्षता में गतिशील हूँ। गति को सम्भव बनाने के लिए कम से कम दो चीजें अनिवार्य हैं। यदि सारे ब्रह्माण्ड को एक इकाई मान लिया जाय, तो कोई गतिशीलता नहीं; किस आधार की सापेक्षता में यह गतिमान होगा? इस-लिए जो निरपेक्ष है, वह अपरिवर्तनशील है, गतिहीन है और सारी गतिशीलता, सारे परिवर्तन गोचर जगत् में हीं हैं, सीमित हैं। सम्पूर्ण वह निर्विशेष है और निम्नतम अणु से लेकर ईश्वर ——सगुण ईश्वर, सृष्टिकर्ता, जगन्नियन्ता, जिसकी हम प्रार्थना करते हैं, जिसके सम्मुख हम प्रणिपात करते हैं, आदि तक——ये सभी विविध व्यक्ति-रूप उसी निर्विशेष में निहित हैं। अधिक तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त आधारशिला पर ही सविशेष, साकार की प्रतिष्ठा सम्भव है। ऐसा सविशेष ईश्वर निर्विशेष ब्रह्म की परम अभिव्यक्ति के रूप में सहज बोधगम्य है। हम और तुम

के मुँहताज नहीं होते, वे तो निज के लिए माँगने की बात ही भूल गये होते हैं, अपनी कोई चाह उनमें नहीं होती। उनके मन में 'मैं' का नहीं, 'तू', 'मेरे भाई' का भाव ही सजग रहता है ऐसे ही लोग निर्विशेष ईश्वर की उपासना के समर्थ अधिकारी हैं। और निर्विशेष की यह उपासना क्या है? ऐसी उपासना में दासता की भावना लुप्त है—'प्रभु! मैं कुछ नहीं हूँ, मुझ पर दया करो।' तुम्हें पुरानी फारसी कविता का अंग्रेजी रूपान्तर मालूम होगा। "मैं अपने प्रियतम से मिलने आया। दरवाजे बन्द थे। मैंने दरवाजा खटखटाया और भीतर से एक आवाज सुनायी दी, 'तू कौन?' 'मैं अमुक हूँ।' किवाड़ नहीं खुले। दुबारा मैं आया और खटखटाया। वही प्रश्न दुहराया गया और वही उत्तर मैंने भी दिया। किवाड़ खुले नहीं। तीसरी बार आया और फिर वही प्रश्न। मैंने जवाब दिया, 'प्रियतम! मैं तुम ही हूँ।' और दरवाजा खुल गया।" निर्विशेष ईश्वर की उपासना का माध्यम सत्य है। सत्य है क्या? कि वही मैं हूँ, सोऽहम्। यदि मैं जो कहूँ कि 'मैं' 'तू' नहीं हूँ, तो यह असत्य है। यदि मैं अपने को तुमसे अलग कहूँ तो यह असत्य है, घोर प्रवंचना है। मैं सृष्टि के साथ एकरूप हूँ, मैं जन्मना एक हूँ। मेरी इन्द्रियों को यह स्पष्ट है कि मैं सृष्टि का ही अभिन्न रूप हूँ। मैं सर्वत्र व्याप्त वायु, ताप, प्रकाश से अभिन्न हूँ, सनातन काल से मैं एवं विश्वात्मा एक हैं। वही विराट् विश्व कहा जाता है, भूल से निखिल सृष्टिरूप में ग्रहण किया जाता है; क्योंकि वही सब कुछ है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, हृदय में विराजमान वही शाश्वत आत्मा है, जो प्रत्येक हृदय में 'सोऽहम्' का उद्घोष करता है—वह अनश्वर है, सुषुप्तिरहित है, सदा

जागृत है, अमर है, जिसकी महिमा का कभी अन्त नहीं, जिसकी शक्ति अमोघ है। मैं वही परम तत्त्व हूँ।

निर्विशेष की यही उपासना है--इसका परिणाम क्या है? मानव-जीवन में आमूल परिवर्तन हो जायगा। शक्ति, वह शक्ति ही है जीवन में जिसकी हमें इतनी आवश्यकता है। कारण,हम जिसे पाप या दुःख मान बैठे हैं, उसके मूल में दुर्बलता ही है। दुर्बलता अज्ञान का और दुःख अज्ञान का जनक है। यह उपासना हमें शक्तिसम्पन्न बनायेगी। फलतः हमारे लिए दुःख उपहासास्पद होगा, हिंसकों की हिंसा की हम हँसी उड़ायेंगे और खूंखार चीता अपनी हिंसक प्रवृत्ति के भीतर मेरी अपनी आत्मा को ही अभिव्यक्त करने लगेगा। यही इस उपासना का सुफल है। परमात्मा से एकरूप हुई जीवात्मा ही शक्तिशाली है, बाकी कोई शक्तिशाली नहीं। क्या तुम्हें मालूम है कि तुम्हारी बाइबिल में ही नाजरथ के ईसा मसीह की अद्भुत शक्ति का रहस्य क्या है? वही अमित, अनन्त शक्ति, जिसने हत्यारों की हँसी उड़ायी और उनको आशीर्वाद दिया, जो उनकी जान लेना चाहते थे। वह यह था कि 'मैं तथा परम पिता, दोनों एक हैं।' यह वही प्रार्थना थी कि 'परम पिता! मैं जिस प्रकार तुझसे एक हूँ, उसी प्रकार उन सब को मुझसे एक कर दो।' यह निर्विशेष की उपासना है, सृष्टि से तादात्म्य स्थापित करो, 'उससे' अभिन्न बनो। इस निर्विशेष के लिए किसी प्रदर्शन, किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। यह सूक्ष्म इन्द्रियों से भी अधिक कहीं हमारे समीप है, सूक्ष्मतम चिन्तन से भी अधिक अपना है, उसी के माध्यम से और उसी में हम देखते-सोचते हैं। कुछ भी देखने के पहले हमें उसे देखना होगा। यह दीवार देखने के लिए भी पहले मुझे उसे देखना

होगा और पीछे दीवार देखनी होगी, क्योंकि वही नित्य विषयी है। कौन किसे देख रहा है? वह हमारे हृदय-मन्दिर में विराजता है। देह, बुद्धि आदि परिवर्तनशील हैं, शोक, हर्ष, शुभ-अशुभ, आते-जाते रहते हैं। दिन और वर्ष बीतते जाते हैं, जीवन का आना-जाना लगा है। किन्तु वह मृत्युंजय है। वही अनाहत नाद 'सोऽहम्', 'सोऽहम्', शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है। उसमें और उसी के माध्यम से ही हम अनुभव करते हैं, सोचते हैं, जीते है, सत्ताधारी हैं। वह 'अहम्' जिसे हम क्षुद्र 'मैं' मान बैठे हैं, [illegible]त समझ बैठे हैं, वह केवल मेरा 'अहम्' नहीं, लेकिन वह [illegible] का अर्थात् जीवों का, देवदूतों का, निम्न के निम्नतम का [illegible]' है। खूनी एवं सन्त, अमीर एवं गरीब, स्त्री एवं पुरुष, [illegible]वं पशु आदि सब में समान रूप से वही 'सोऽहम्' निवास [illegible] है। एक निम्नतम अमीबा से लेकर महत्तम देव में सर्वत्र मह निवास करता है और सतत घोषित करता है: 'सोऽहम्', 'सोऽहम्'। यदि सतत विद्यमान अनाहत नाद को हम समझ सकें, यह पाठ सीख लें, तो सम्पूर्ण सृष्टि का रहस्य खुल जायगा, ज्ञातव्य कुछ भी नहीं रह जायगा। अतः सारे धर्म-सम्प्रदाय जिस सत्य की खोज में लगे हैं, वह सत्य हमें प्रत्यक्ष हो जायगा, और हम समझ जायँगे कि भौतिक विज्ञान की ये सारी उपलब्धियाँ गौण हैं। यही केवल सच्चा ज्ञान है, जो विश्व के विश्वात्मा के साथ हमें एकरूप बनाता है।

धर्म : उसकी विधियाँ और प्रयोजन

विश्व के धर्मों के अध्ययन से हमें साधारणतया धार्मिक प्रवृत्ति की दो विधियों का पता चलता है, । एक है ईश्वर से मनुष्य की ओर । जैसे, धर्मों के सेमिटिक वर्ग में ईश्वर का ज्ञान सर्वप्रथम आता है, पर आश्चर्य की बात यह है कि इसके साथ आत्मा की कोई चर्चा भी नहीं आती। यहूदी लोगों की यह विशेषता रही है कि अपने इतिहास के आसन्न-काल तक उन लोगों ने मानवात्मा सम्बन्धी ज्ञान का कोई विकास ही नहीं किया था। उनके अनुसार मनुष्य मन तथा भौतिक पदार्थों के संयोग से बना है, बस । मृत्यु के साथ सब कुछ का अन्त हो जाता है । दूसरी ओर इन्हीं जातियों ने ईश्वरसम्बन्धी अत्यन्त आश्चर्यजनक धारणा का विकास किया था। यह धार्मिक प्रक्रिया की एक विधि है, दूसरी विधि है मनुष्य से ईश्वर की ओर को। यह दूसरी विधि खासकर आर्यों में पायी जाती है, जब कि पहली सेमिटिक लोगों में । आर्य लोगों ने पहले-पहल आत्मा-सम्बन्धी धारणा का विकास किया। ईश्वर-सम्बन्धी इनकी धारणा अस्पष्ट, अविकसित तथा धूमिल थी । पर जैसे-जैसे मानवात्मा का स्पष्ट ज्ञान होता गया, वैसा-वैसा ईश्वर का ज्ञान भी उसी अनुपात में स्पष्ट होता गया । इस तरह वेदों की जिज्ञासा आत्मा से ही शुरू होती है । आर्यों ने ईश्वर-सम्बन्धी जो कुछ ज्ञान लाभ किया, वह सब मानवात्मा के ज्ञान के माध्यम से ही। और इसलिए उनके सम्पूर्ण दर्शनों पर एक विशिष्ट छाप देखने को मिलती है। वह

है ईश्वरसम्बन्धी अन्तर्मुखी जिज्ञासा। आर्य लोग सदैव अ
आत्मा के भीतर ही ब्रह्म को खोजते हैं। कालान्तर में उन लं
की यह स्वाभाविक विशेषता बन गयी। और यह विशे
‾‾नकी कलाओं तथा उनके सामान्यतम व्यवहारों में भी अ
हुई। आज भी जब हम धार्मिक मुद्रा में बैठे कि
व्यक्ति का यूरोपीय चित्र देखते हैं, तो पाते हैं कि चित्रक
उसकी आँखों को ऊर्ध्वोन्मुख दिखाता है, मानो वह प्रकृति
बाहर, आकाश की ओर ईश्वर की खोज के लिए देख रहा है
पर दूसरी ओर भारतवर्ष में धार्मिक प्रवृत्ति को साधक की ब
आँखों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, मानो वह अपने भीत
देख रहा हो।

वस्तुतः मनुष्य के अध्ययन के ये ही दो विषय हैं: बाह्य प्रकृ
तथा आन्तरिक प्रकृति। वैसे तो ये दोनों विषय परस्पर-विरोध
प्रतीत होते हैं, पर साधारण मनुष्य यही सोचता है कि बाह्
प्रकृति पूर्णतया आन्तरिक प्रकृति--विचार-जगत् द्वारा ही निर्मित
हुई है। संसार के अधिकांश दर्शन, खासकर पाश्चात्य दर्शन
ऐसा मानते हैं कि ये दोनों--जड़ और चेतन (मन)--विरोधी
तत्त्व हैं। किन्तु अन्ततः यह देखा जाता है कि ये दोनों तत्त्व--
परस्पर आकृष्ट होकर एक दूसरे में समाहित हो जाते तथा
संघटित होकर एक ही अनन्त सत्ता का निर्माण करते हैं। मेरे
इस विश्लेषण का यह कतई अर्थ नहीं कि मैं इन दोनों दृष्टियों
में से एक को उच्च और दूसरी को निम्न बताना चाहता हूँ।
मेरा मतलब यह कदापि नहीं है कि जो लोग बाह्य प्रकृति के
माध्यम से सत्य का सन्धान कर रहे हैं, वे गलत रास्ते पर हैं;
अथवा, जो आन्तरिक प्रकृति के माध्यम से ही सत्य को पाना

चाहते हैं, वे अपेक्षाकृत उच्चतर कोटि के हैं। ये तो सत्य के साधन की दो विधियाँ हैं। दोनों ही को जीवित रहना है, दोनों ही का अध्ययन करना चाहिए और अन्त में यह देखा जायगा कि दोनों एक में मिल जाती हैं। हम देखेंगे कि न तो शरीर मन का विरोधी है, न मन शरीर का, यद्यपि ऐसे कुछ लोग मिलेंगे, जो सोचते हैं कि यह शरीर तो कुछ नहीं है। प्राचीन काल में हर देश में कुछ लोग ऐसे मिलते थे, जो इस शरीर को मात्र रोग-व्याधि और पाप का आगार अथवा ऐसा ही कुछ मानते थे। खैर, बाद में यह अनुभव किया गया, जैसा कि वेदों में उल्लिखित है, कि शरीर मन में तथा मन शरीर में विलीन हो जाता है।

तुमको सभी वेदों में समान रूप से उपदिष्ट वचन अवश्य याद होगा, 'जिस प्रकार मिट्टी के एक ढेले को जानने से हमें संसार भर की सम्पूर्ण मिट्टी का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार वह कौन सी वस्तु है, जिसे जानकर हमें सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान हो जायगा?' वस्तुतः सम्पूर्ण मानव-ज्ञान का यही आशय है। यह उस एकत्व की खोज है, जिसकी ओर हम सभी अग्रसर हो रहे हैं। हमारे सभी कार्य––चाहे वे अत्यन्त भौतिक हों, चाहे वे स्थूलतम और सूक्ष्मतम हों, चाहे वे उच्चतम या एक ही परम आध्यात्मिक––समानरूपेण आदर्श की ओर उन्मुख हैं––वह है, एकत्व की प्राप्ति। मनुष्य पहले अकेला रहता है। फिर वह विवाह करता है। ऊपर से देखने में भले ही इसमें उसका स्वार्थ झलके, पर इसके मूल में एक ही भावना––प्रेरक शक्ति है––ऐक्य की प्राप्ति। उसके सन्तानें हैं, मित्र हैं, वह देशप्रेमी है, विश्वप्रेमी है और सम्पूर्ण विश्वप्रेम में उसकी परिसमाप्ति होती

है। मानो कोई अदम्य शक्ति है, जो हमें पूर्णता की उस स्थिति में जाने के लिए बाध्य करती है, जिसमें हम अपने तुच्छ व्यक्तित्व को समाप्त कर अधिकाधिक उदार बन जाते हैं। यही वह ध्येय है, जिसकी ओर सम्पूर्ण विश्व धावमान है। हर परमाणु एक दूसरे से मिलना चाहता है। परमाणु पर परमाणु मिलते जाते हैं और इस तरह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा ग्रहों का निर्माण होता है। फिर वे भी एक दूसरे की ओर खिंचे जा रहे हैं और अन्ततः हम जानते हैं कि सम्पूर्ण विश्व—भौतिक तथा चेतन—एक अभिन्न सत्ता में परिवर्तित हो जाता है।

जो विधान बृहत् ब्रह्माण्ड में बड़े पैमाने पर काम कर रहा है, वही विधान सूक्ष्म ब्रह्माण्ड में भी छोटे पैमाने पर काम कर रहा है। जिस तरह विविधता तथा पृथकता में विश्व का अस्तित्व है, यद्यपि सारी वस्तुएँ एक अभिन्नता और एकता की ओर अग्रसर हो रही हैं, उसी प्रकार अपने इस छोटे जगत् में भी प्रत्येक आत्मा मानो सभी वस्तुओं से पृथक् सत्ता के रूप में जन्म लेती है। जो प्राणी जितना ही अज्ञानी है, जितना ही अप्रबुद्ध है, वह उतना ही अधिक अपने को विश्व की अन्य वस्तुओं से भिन्न समझता है। जो जितना ही अज्ञानी है, वह उतना ही अधिक सोचता है कि वह मर जायगा अथवा जन्म लेगा। और यह विचार ही विश्व से उसकी पृथकता का द्योतक है। पर हम ऐसा भी देखते हैं कि आदमी जैसे-जैसे विकसित होता है और ज्ञान लाभ करता है, वैसे-वैसे उसमें नैतिकता का विकास होता है और अपृथकता की भावना का प्रादुर्भाव होता है। चाहे हम समझें अथवा नहीं, पर यह सत्य है कि कोई एक ऐसी सत्ता अवश्य है, जो छिपे रूप में हमें निःस्वार्थता की ओर अग्रसर

करती रहती है। और सारी नैतिकता की भित्ति यही है। यही सारे नीतिशास्त्रों का मूल तत्त्व है, चाहे वे किसी भी भाषा में, किसी भी धर्म में अथवा किसी भी उपदेशक द्वारा उपदिष्ट हों। 'तू निःस्वार्थ बन' "मैं नहीं, वरन् 'तू' "--यह भाव ही सारे नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि है। और इसका तात्पर्य है, व्यक्तित्व के अभाव का परिज्ञान--इस भाव का आना कि तुम मेरे अंग हो और मैं तुम्हारा, तुमको चोट लगने से मुझे स्वयं चोट लगेगी और तुम्हारी सहायता करके मैं स्वयं की सहायता करूँगा, जब तक तुम जीवित हो, मेरी मृत्यु नहीं हो सकती। जब तक इस विश्व में एक कीट भी जीवित रहेगा, मेरी मृत्यु कैसे हो सकती है? क्योंकि उस कीट के जीवन में भी तो मेरा जीवन है। साथ ही वह भाव यह भी सिखाता है कि हम अपने किसी भी सहजीवी प्राणी की सहायता किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि उसके हित में ही हमारा भी हित सन्निहित है।

यही वेदान्त तथा अन्य सभी धर्मों का सार-तत्त्व है। तुम जानते हो कि धर्मों की साधारणतः तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था है दर्शन की, सार-तत्त्व की, मूलभूत सिद्धान्त की। इन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति पुराणों में होती है--ये पुराण महात्माओं तथा महापुरुषों, देवों अथवा दैवी आत्माओं से सम्बद्ध हो सकते हैं--और इन सारे पुराणों में शक्ति की भावना अन्तर्निहित रहती है। निम्न कोटि के पुराणों में--जैसे आदिम काल के पुराणों में--इस शक्ति की अभिव्यक्ति शारीरिक शक्ति के रूप में होती थी, उसके नायक महान् शक्तिशाली तथा दैत्याकार होते थे। एक ही कथा-नायक सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त कर लेता था। जैसे-जैसे मनुष्य का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे

वह शक्ति की अभिव्यक्ति शारीरिक स्तर से उच्चतर स्तर पर देखना चाहता है और इसलिए मनुष्य के आदर्श नायक भी उच्च स्तर के होते जाते हैं। उच्च कोटि के पुराणों के नायक महान् नैतिक पुरुष हैं। उनकी शक्ति का प्रस्फुटन नैतिकता और पवित्रता के ही रूप में होता है। वे स्वयं समर्थ हैं, अकेले ही अनैतिकता और स्वार्थ के उठते ज्वार को पीछे ढकेल देने की क्षमता होती है उनमें। धर्म की तीसरी अवस्था है प्रतीक, जिसे तुम कर्मकाण्ड और बाह्याचार कहते हो। पुराणों और आदर्श पुरुषों के जीवन भी कुछ लोगों के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इससे भी निम्न कोटि के लोग होते हैं, जो बच्चों की भाँति खिलौने के माध्यम से ही धर्म को समझ सकते हैं। और इस तरह ऐसे प्रतीकों का विकास हुआ, जिन्हें वे विशिष्ट उदाहरण के रूप में इस तरह देख सकते हैं तथा अनुभव कर सकते हैं, जैसे वह ठोस पदार्थ हो।

इस तरह तुमने देखा कि हर धर्म में तीन अवस्थाएँ होती हैं: दर्शन, पुराण तथा कर्मकाण्ड। सौभाग्य से भारतवर्ष में वेदान्त धर्म में इन तीनों अवस्थाओं का विभाजन अत्यन्त स्पष्ट ढंग से हुआ है। अन्य धर्मों में सिद्धान्त तथा पुराण इस तरह मिले-जुले हैं कि उन्हें अलग-अलग करके समझना अत्यन्त दुष्कर है। पुराण इतने प्रभावशाली होते हैं कि वे सिद्धान्तों को निगल जाते हैं। और शताब्दियों के पश्चात् ये सिद्धान्त ओझल ही हो जाते हैं। उनकी व्याख्या और उनके उदाहरण ही सिद्धान्तों को निगल जाते हैं और लोग केवल व्याख्या तथा उदाहरण---आदर्श पुरुषों के जीवन---ही देखते रह जाते हैं, जब कि उनके मूलभूत सिद्धान्त प्रायः तिरोहित हो जाते हैं। यह बात इस हद तक पहुँच जाती

है कि अगर आज कोई ईसा मसीह के जीवन से अलग ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की चर्चा करे, तो लोग उस पर आक्रमण करेंगे, उसे गलत समझेंगे तथा मानेंगे कि वह ईसाई धर्म का खण्डन कर रहा है। इसी तरह अगर कोई इस्लाम के सिद्धान्तों की चर्चा करे, तो मुसलमान लोग ठीक उसी तरह बुरा मानेंगे। कारण यह है कि इन धर्मों में मूर्त विचारों ने—महापुरुषों तथा पैगम्बरों की जीवनियों ने मौलिक सिद्धान्तों को पूर्णतः आच्छादित कर लिया है।

वेदान्त के साथ बड़ी सुविधा यह है कि यह किसी एक व्यक्ति पर आधारित नहीं है और इसलिए स्वभावतः ही ईसाई, इस्लाम अथवा बौद्ध-धर्म की भाँति इसके मौलिक सिद्धान्तों को विचारकों की जीवनियों ने निगल या ढँक नहीं रखा है। वेदान्त में सिद्धान्त ही जीवित हैं और पैगम्बरों के जीवन मानो वेदान्त के लिए अज्ञात हैं और गौण हैं। उपनिषदों में किसी खास पैगम्बर की चर्चा नहीं है, प्रत्युत अनेक स्त्री एवं पुरुष पैगम्बरों की चर्चा है। प्राचीन हिब्रू लोगों में भी ये विचार थे अवश्य, पर हम देखते हैं कि हिब्रू साहित्य का अधिकांश मूसा ही अधिकृत किये हुए है। मेरा मतलब यह कदापि नहीं कि इन पैगम्बरों का किसी राष्ट्र की धार्मिक चेतना पर छा जाना बुरा है, परन्तु यदि मौलिक सिद्धान्त सर्वथा ओझल हो जायँ, तो अवश्य ही यह हानिकारक है। जहाँ तक सिद्धान्तों की बात है, हम काफी दूर तक सहमत हो सकते हैं, पर व्यक्तियों के बारे में भी सहमत हों, ऐसा नहीं हो सकता। व्यक्तियों का प्रभाव हमारे संवेगों पर पड़ता है, पर सिद्धान्त हमें इससे उच्चतर स्तर पर प्रभावित करते हैं—वे हमारी सुस्थिर विचार-शक्ति को प्रभावित करते हैं। अन्ततोगत्वा

सिद्धान्तों की ही विजय होगी, क्योंकि मनुष्य का मनुष्य इसी में है। संवेग तो अनेक बार हमें पशुओं की श्रेणी त खींचकर ले आते हैं। संवेगों का सम्बन्ध बुद्धि से अधिक इन्द्रि से है। और इसलिए सिद्धान्त जब पूर्णतः तिरोहित हो जाते और संवेगों का ही बोल-बाला रह जाता है, तब धर्म का अध पतन धर्मान्धता तथा साम्प्रदायिक कट्टरता के रूप में होता है वैसी स्थिति में वे राजनीतिक दलबन्दियाँ ही रह जाते हैं अज्ञान के गहनतम अन्धकार में पड़े राष्ट्र अभिभूत हो जाते और इन धार्मिक विचारों के नाम पर हजारों अपने बन्धुबान्धवों की गर्दन काटने के लिए तैयार हो जाते हैं। यही वजह है कि यद्यपि ये महापुरुष तथा पैगम्बर मानवता के कल्याण के महान् प्रेरक हैं, फिर भी इनका जीवन तब अत्यन्त अहितकार साबित होता है, जब ये अपने जीवन के आधारभूत सिद्धान्तों के हा प्रतिकूल जन-समुदाय को ले चलने लगते हैं। इससे धर्मान्धता का सूत्रपात हुआ है तथा संसार रक्त से आप्लावित होता रहा है। वेदान्त ऐसी कठिनाइयों से परे है, क्योंकि इसका कोई एक विशेष पैगम्बर नहीं। इसके कितने ही द्रष्टा रहे हैं, जिन्हें ऋषि कहा जाता है। ये द्रष्टा इसलिए कहे जाते हैं कि इन्होंने सत्य अर्थात् मन्त्रों का वस्तुतः दर्शन किया था।

मन्त्र शब्द का अर्थ है, 'सुविचारित', जिसका चिन्तन किया गया है और ऋषि इन विचारों का द्रष्टा होता है। इस तरह ये मन्त्र किन्हीं विशेष व्यक्तियों की सम्पत्ति नहीं हैं। चाहे कोई कितना भी महान् हो, पर उसका इन पर एकाधिपत्य नहीं हो सकता। और न तो ये विचार बुद्ध और ईसा जैसे महापुरुषों की ही एकमात्र सम्पत्ति हो सकते हैं। ये विचार तो निम्न से

'निम्न प्राणी के भी उतने ही हैं, जितने वुद्ध के; नन्हे से नन्हे कीटाणु का भी इन पर उतना ही आधिपत्य है, जितना ईसा का। कारण, ये सिद्धान्त तो सार्वभौम हैं। कभी इनकी रचना नहीं होती। ये तो सदैव ही रहे हैं और सदैव रहेंगे। ये अस्पष्ट हैं--आज विज्ञान जिन नियमों को वताता है, उनसे इनकी रचना की व्याख्या नहीं हो सकती। प्रकृति में शाश्वत रूप से ये विद्यमान हैं। वे आच्छन्न रहते हैं और फिर अनाच्छन्न--आविष्कृत--हो जाते हैं। यदि न्यूटन का जन्म न भी होता, तो भी गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त रहता ही, और अपनी स्वाभाविक गति से काम करता ही जाता। हाँ, न्यूटन की प्रतिभा ने अवश्य इसको सूत्रवद्ध किया, उसका आविष्कार किया, और चेतना में लाकर उसे मनुष्य जाति की चेतना का एक अंग वना दिया। ठीक ऐसी ही वात इन धार्मिक सिद्धान्तों--महान् आध्यात्मिक सत्यों--के सम्वन्ध में भी है। ये शाश्वत रूप से काम करते आ रहे हैं। अगर वेद, वाइविल तथा कुरान न भी होते, अगर ऋषि तथा पैगम्वर न भी पैदा हुए होते, तो भी ये नियम रहते ही। यही होता की कुछ काल के लिए ये अनाविष्कृत रहते। पर धीरे-धीरे ये मानव-जाति की उन्नति के लिए, मानव-प्रकृति के विकास के लिए काम करते ही जाते। पैगम्वर तथा ऋषि वे होते हैं, जो इन नियमों का आविष्कार करते हैं--आध्यात्मिक क्षेत्र में वे पैगम्वर आविष्कारक ही तो हैं। जैसे न्यूटन और गैलीलियो भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में पैगम्वर हैं, वैसे ही ये आध्यात्मिक क्षेत्र में। और ये लोग इन आविष्कृत नियमों पर अपना एकाधिपत्य नहीं साबित कर सकते, ये तो प्रकृति मात्र की सार्वजनिक सम्पत्ति हैं।

जैसा कि हिन्दू लोग मानते हैं, वेद शाश्वत हैं। अब हम समझने लगे हैं कि उनके शाश्वत कहने का तात्पर्य क्या है शाश्वत का तात्पर्य है कि इन नियमों का न तो आदि है, न अन्त जैसे प्रकृति का न आदि है न अन्त। एक पृथ्वी के बाद दूसरी पृथ्वी, एक मण्डल के बाद दूसरा मण्डल बनेगा और कुछ समय तक चलकर पुन: विघटित होकर प्रलय में समाहित हो जायगा; किन्तु विश्व ज्यों का त्यों बना ही रहेगा। कोटि-कोटि मण्डल बनते हैं और करोड़ों विनिष्ट होते हैं, पर विश्व ज्यों का त्यों बना रहता है। किसी खास ग्रह के सन्दर्भ में काल के आदि अथवा अन्त के विषय में कुछ कहा जा सकता है। पर जहाँ तक विश्व का प्रश्न है, काल का अर्थ कुछ भी नहीं है। ठीक यही बात भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों के बारे में भी है। उनका न आदि है, न अन्त। अपेक्षाकृत हाल ही में तो अधिक से अधिक कुछ हजार वर्ष पहले मनुष्य ने इन्हें प्रकाश में लाने की कोशिश शुरू की। अभी तो अनन्त राशि हमारे सामने पड़ी है। इसलिए वेदों से एक महान् शिक्षा जो हमें मिलती है, वह यह है कि अभी धर्म का तो आरम्भ ही हुआ है। आध्यात्मिक सत्य का अनन्त समुद्र हमारे सामने पड़ा है, जिसका हमें आविष्कार करना है तथा जिसे हमें अपने जीवन में उतारना है। दुनिया ने पैगम्बरों को देखा है, पर उसे अभी और भी हजारों-करोड़ों पैगम्बरों को देखना है।

प्राचीन काल में हर समाज में अनेक पैगम्बर हुआ करते थे; अब ऐसा समय आयेगा कि दुनिया के हर शहर की हर गली में पैगम्बर घूमेंगे। प्राचीन काल में समाज के कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार खास-खास व्यक्ति ही पैगम्बर माने जा सकते थे।

अब तो ऐसा समय आनेवाला है, जब समझा जाने लगेगा कि धार्मिक होना मात्र ही पैगम्बर होना है और जब तक कोई धार्मिक नहीं होता, तब तक वह पैगम्बर नहीं बन सकता। तब हम लोग समझेंगे कि कतिपय विचारों को समझ लेना तथा उन्हें अभिव्यक्त करना ही धार्मिकता का रहस्य नहीं है, वरन् जैसा कि वेद कहते हैं, आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति करनी होगी तथा और भी उच्च और अनाविष्कृत तथ्यों का सन्धान करना होगा, उन्हें समाज के लिए सुलभ करना होगा। धर्माध्ययन ऐसे विचारकों के निर्माण की कुंजी है। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों को पैगम्बर बनाने के लिए प्रशिक्षण-केन्द्र होना चाहिए। सम्पूर्ण विश्व को पैगम्बरों से भर देना होगा; क्योंकि जब तक कोई पैगम्बर नहीं बनता, तब तक तो धर्म उसके लिए तुच्छ और महज मजाक का विषय रहेगा। जिस अर्थ में हम दीवाल को देखते हैं, उसकी अपेक्षा हजार गुने प्रखर रूप में धर्म को देखना, उसे अनुभव करना होगा।

किन्तु धर्म की विभिन्न अभिव्यक्तियों के मूल में एक ही तत्त्व है। और उस तत्त्व को हमारे लिए बहुत पहले निश्चित किया जा चुका है। हर विज्ञान उस विन्दु पर आकर रुक जाता है, जहाँ उसे किसी इकाई का पता चल जाता है। उस अन्तिम इकाई के ज्ञान के बाद उस विज्ञान को और भी नूतन सिद्धान्तों के आविष्कार की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। धार्मिक क्षेत्र में उस मौलिक इकाई का ज्ञान तो बहुत पहले हो चुका है अब धर्मों के समक्ष जो काम है, वह है उस इकाई को विभिन्न अभिव्यक्तियों का पता लगाना। उदाहरण के लिए हम किसी भी विज्ञान को लें, मान लो, रसायनशास्त्र को। मान लो कि

ऐसे तत्त्व का पता चल जाय, जिससे सभी तत्त्वों का निर्माण हुआ है। तब तो रसायनशास्त्र अपने चरम विकास पर पहुँच जायगा और उसके सामने बस इतना ही काम शेष रह जायगा कि वह देखे कि उस मौलिक तत्त्व की कितनी अभिव्यक्तियाँ हैं और जीवन में उनका क्या उपयोग है। ठीक यही बात धर्म के मामले में भी है। युगों पूर्व धर्मों के विराट् मौलिक तत्त्वों का पता चल गया, उसके क्षेत्र तथा उसकी योजना का ज्ञान प्राप्त हो गया। यह सब तभी हो गया, जब मनुष्य ने वेदों में उल्लिखित तथाकथित 'अन्तिम शब्द'——सोऽहम्——को पा लिया अर्थात् इस सत्य को समझ लिया कि जड़-चेतनमय विश्व में ही एक ही सत्ता व्याप्त है, चाहे उसे आप 'गॉड' कहें अथवा ब्रह्म, अल्लाह कहें अथवा जिहोवा। मनुष्य इस सत्य की अनुभूति के आगे नहीं जा सकता। सौभाग्य से हमारे लिए इस सिद्धान्त का आविष्कार पहले ही हो चुका है और हमारे लिए बस इतना ही शेष है कि इसका अपने जीवन में उपयोग करें। हमें वह काम करना है, जिससे प्रत्येक मनुष्य द्रष्टा बन जाय। सचमुच हमारे सामने एक महान् कार्य है।

पहले ज़माने में लोगों को यह पता ही नहीं था कि पैगम्बर का मतलब क्या होता है। वे सोचते थे कि संयोग ही से कोई व्यक्ति दैवी कृपा अथवा असाधारण प्रतिभा का भागी बनता है और उसके बल पर उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेता है। आज तो हम सिद्ध करने के लिए तैयार हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को इस उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार है; इस विश्व में मात्र संयोग से कुछ नहीं होता। जिस व्यक्ति के बारे में हम सोचते हैं कि संयोग से उसने अमुक चीज प्राप्त कर ली

है वह व्यक्ति वस्तुतः युगों से उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहा है। इस तरह सारी समस्या का रूप यह हो जाता है : 'क्या हम सचमुच पैगम्बर बनना चाहते हैं ?' अगर हाँ तो हम बनकर रहेंगे।

इस तरह पैगम्बर बनाने का महान कार्य हमारे सम्मुख पड़ा है। सभी महत्त्वपूर्ण धर्म जाने-अनजाने इसी उद्देश्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। हाँ, अपवाद-स्वरूप कुछ ऐसे धर्म अवश्य मिल जायँगे, जो मानते हैं कि आध्यात्मिकता का प्रत्यक्षीकरण इस जन्म में सम्भव नहीं है। वे मानते हैं कि मनुष्य मरेगा और इतर जन्म में कभी उसे आध्यात्मिक तत्त्वों के दर्शन होंगे; और तभी उसे उन सत्यों की प्रत्यक्षानुभूति होगी, जिनमें वह अभी केवल विश्वास करता है। किन्तु ऐसा माननेवालों से वेदान्त पूछेगा कि तब-तुम कैसे जानते हो कि आध्यात्मिकता नाम की कोई चीज है भी ? तब उनको यही उत्तर देना पड़ेगा कि ऐसे असाधारण पुरुष सदा होते रहे हैं, जिन्हें इसी जन्म में ही साधारणतः अज्ञात और अज्ञेय माने जानेवाले सत्यों की झलक मिली है।

किन्तु इसमें एक कठिनाई है। यदि ये द्रष्टा लोग कुछ विचित्र प्रकार के व्यक्ति थे, और इन्हें इस प्रकार की शक्ति संयोग से प्राप्त हो गयी थी, तो हमें उनकी बातों में विश्वास करने का कोई अधिकार नहीं है। किसी भी संयोगजनित वस्तु में विश्वास करना पाप होगा, क्योंकि हम उस वस्तु को साधारणतः जान तो सकते नहीं। आखिर ज्ञान का अर्थ क्या है ? अपवादिता का विनाश ! मान लो, कोई लड़का किसी गली अथवा ऐसे स्थान में जाता है, जहाँ जंगली पशुओं को रखा गया हो और वहाँ वह

एक विचित्र रूपवाले पशु को देखता है। उसे नहीं पता कि वह क्या है। बाद में वह किसी ऐसे देश में जाता है, जहाँ उसे उस तरह के सैकड़ों पशु दिखायी पड़ते हैं और तब वह समझ जाता है कि पहलेवाला पशु किस जाति का प्राणी है। अनुभूत तथ्यों में किसी सिद्धान्त का दर्शन ही ज्ञान है। अपवाद का भाव अज्ञान का द्योतक है। जब ज्ञात सिद्धान्त से परे एक या कुछ ऐसे उदाहरण मिले, जो उस सिद्धान्त से मेल न खाते हों, तो मानना चाहिए कि उनके विषय में हम अन्धकार में हैं। अब अगर वे इक्के-दुक्के पैगम्बर, जैसा लोग कहते हैं, असाधारण पुरुष थे और केवल उन्हें ही परम तत्त्वों की झलक पाने का अधिकार प्राप्त था, अन्य किसी को नहीं, तब हमें उनमें विश्वास नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे किसी सर्वसाधारण सिद्धान्त से असम्बद्ध अपवादी दृष्टान्त हैं। हम तभी उनमें विश्वास कर सकते हैं, जब स्वयं वैसे पैगम्बर हो जायँ।

अखबारों में निकलनेवाले समुद्री साँपों सम्बन्धी मजाकों से तुम सभी परिचित होगे। आखिर ऐसे मजाक क्यों किये जाते हैं? इसलिए कि कुछ लोग समय-समय पर आकर सामुद्रिक सर्प की कहानियाँ कह जाते हैं, जब कि दूसरे लोग उस सर्प को कभी देखते नहीं हैं। चूँकि इनका कोई विशिष्ट सिद्धान्त नहीं है, इसलिए दुनिया इनमें विश्वास नहीं करती। अगर कोई आदमी आकर हमसे कहने लगे कि अमुक पैगम्बर हवा में अन्तर्धान होकर चले गये, तो हमें इतना तो अधिकार होगा ही कि इन चीजों को प्रत्यक्ष देख सकें। मैं उस व्यक्ति से पूछूंगा, "क्या, तुम्हारे पिता और पितामह ने भी इस बात को देखा था?' जवाब मिलेगा, "नहीं। पर पाँच हजार वर्ष पूर्व ऐसी घटना हुई

थी। और अगर मैं इसमें विश्वास नहीं करूँ, तो मुझे शाश्वत ज्वाला में जलना पड़ेगा !"

कैसा घोर अन्धविश्वास है ! इसका परिणाम है, मनुष्य का देवत्व से पशुत्व की ओर पतन। अगर हमें यों ही विश्वास कर लेना होता, तो बुद्धि किसलिए मिलो ? बुद्धि के विपरीत विश्वास करना क्या महान् कलंक की बात नहीं है ? ईश्वर ने जो शक्ति हमें दी है, उसका उपयोग न करने का हमारा क्या अधिकार है ? मुझे विश्वास हैं कि ईश्वर उस व्यक्ति को क्षमा कर दे सकता है, जो अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है और आस्था नहीं रखता, किन्तु वह उसे नहीं क्षमा करेगा, जो उसकी दी हुई शक्ति का उपयोग किये बिना ही विश्वास कर लेता है। ऐसे व्यक्ति का स्वभावत: पाशविकता की ओर पतन होता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियों का ह्रास होता और अन्त मे उसकी मृत्यु हो जाती है। हमें तर्क अवश्य करना चाहिए, और जब ये पैगम्बर और महापुरुष, जिनकी चर्चा सभी देशों की प्राचीन पुस्तकों में है, तर्क की कसौटी पर खरे उतरें, तभी इनमें विश्वास किया जाना चाहिए, जब हम अपने बीच ऐसे पैगम्बरों को देख लेंगे, तब अनायास ही हम उनमें विश्वास करने लगेंगे। तब हम समझ जायेंगे कि ये पैगम्बर विलक्षण पुरुष नहीं थे, प्रत्युत एक विशिष्ट तत्त्व की साकार प्रतिमा थे। उनके जीवन के माध्यम से इन तत्त्वों ने अपने को अभिव्यक्त किया था, और अगर हम भी उन्हें अपने जीवन में प्रकाशित करना चाहते हैं, तो हमें उसके लिए साधना करनी होगी। जब हम स्वयं पैगम्बर बन जायेंगे, तो स्वत: उनमें हमारा विश्वास जम जायगा। वे धर्मगुरु तो दैवी तथ्यों के द्रष्टा थे। वे इन्द्रियातीत तथ्यों की झाँकी पा सकते थे। किन्तु इन

बातों में हमारा विश्वास तभी हो सकेगा, जब हम स्वयं भी वैस कर सकेंगे; अन्यथा नहीं।

वेदान्त का यही एकमात्र सिद्धान्त है। वह मानता है कि धर्म तो वर्तमान में ही अनुभूत होनेवाला विषय है, क्योंकि उसके अनुसार यह जन्म और वह जन्म, जन्म और मरण, इहलोक और परलोक, ये सारी बातें अन्धविश्वास तथा पूर्व धारणाओं पर आधारित हैं। काल के प्रवाह में कभी विराम नहीं होता, हाँ अपनी धारणाओं से हम भले ही उसमें विराम मान लें। चाहे दस बजा हो या बारह, काल में कोई अन्तर तो नहीं पड़ता। हाँ, प्रकृति में कुछ परिवर्तन भले ही दीख पड़ते हैं। समय का प्रवाह तो अविच्छिन्न रूप से सतत जारी रहता है। तब फिर इस जन्म और उस जन्म का क्या अभिप्राय है? यह तो केवल समय का प्रश्न है और जो काम पिछले समय में न किया जा सका हो, उसे गति को तीव्रतर करके अब पूरा किया जा सकता है। इस तरह वेदान्त का कहना है कि धर्म की अनुभूति तो यहीं हो सकती है। और तुम्हारे धार्मिक होने का अर्थ है कि तुम किसी धर्म की शरण में गये बिना ही आरम्भ करो और अपनी साधना से ही धर्म की अनुभूति करो। जब तुम ऐसा कर सकोगे, तभी तुम्हारा कोई धर्म होगा। उसके पहले तुम नास्तिक ही नहीं—बल्कि उससे भी बुरे हो—क्योंकि जो नास्तिक है, वह कम से कम सच्चा तो है, वह कहता है, "मुझे इन सारी चीजों का कोई ज्ञान नहीं, जब कि दूसरे लोग ज्ञान न रखते हुए भी संसार भर में ढिंढोरा पीटते चलते हैं, हम लोग धार्मिक आदमी हैं।" उनका धर्म क्या है, यह कोई नहीं जानता। उन लोगों ने तो जैसे कुछ दादी की कहानियों को रट लिया है और पण्डे

पुरोहितों ने उनसे उनमें विश्वास करने के लिए कह दिया है, बस। अगर कोई उनमें विश्वास नहीं करता, तो उसे तरह-तरह की धमकियाँ दी जाती हैं। ऐसे ही तो सारी चीजें दुनिया में चल रही हैं।

धर्म का साक्षात्कार ही एकमात्र मार्ग है। हममें से प्रत्येक को स्वयं साक्षात्कार करना चाहिए। आखिर संसार की इन बाइबिलों, इन धर्मग्रन्थों की क्या उपयोगिता है? ये उतने ही उपयोगी हैं, जितने किसी देश के मानचित्र। यहाँ आने के पहले मैंने इंग्लैण्ड का मानचित्र सैकड़ों बार देखा था और इस देश के सम्बन्ध में एक धारणा बनाने में उनसे काफी सहायता मिली थी। फिर भी जब मैं यहाँ आया, तो लगा कि मानचित्र और असली देश में कितना फर्क है! ठीक ऐसा ही अन्तर धार्मिक ग्रन्थों तथा धार्मिक अनुभव में भी है। ये पुस्तकें मात्र मानचित्र हैं। ये अतीत के उन महापुरुषों के अनुभव के भण्डार हैं, जिनसे हमें प्रेरणा मिलती है कि ऐसे अनुभव प्राप्त करने के लिए हमें भी साहस और प्रयत्न करना चाहिए और अगर हम उनसे ऊपर न उठ सकें, तो कम से कम अपनी साधना से उनके बराबर तो पहुँच ही जायँ।

वेदान्त का पहला सिद्धान्त यही है कि आत्मज्ञान ही धर्म है और जिसे उसकी उपलब्धि हो चुकी है, वही धार्मिक है। जब तक इसकी सिद्धि नहीं हो जाती, तब तक कोई व्यक्ति उस व्यक्ति से कदापि अच्छा नहीं, जो कहता है, "मैं कुछ नहीं जानता", बल्कि वह उससे भी गया गुजरा है; क्योंकि जब कोई यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता, तो उतनी दूर तक वह ईमानदार तो है। आत्मज्ञान के मार्ग में फिर हमें इन धर्मग्रन्थों

से अत्यन्त सहायता मिलती है। वे न केवल मार्गप्रदर्शन करते हैं, अपितु सम्यक् निर्देशन तथा अभ्यास कराने में सहायक होते हैं। कारण, हर विज्ञान में अनुसन्धान का अपना एक तरीका होता है। दुनिया में तुमको ऐसे अनेक लोग मिलेंगे, जो कहते फिरते हैं, "मैं धार्मिक बनना चाहता था, सिद्धि प्राप्त करना चाहता था, पर वैसा न कर सका; इसलिए मैं अब किसी चीज में विश्वास नहीं करता।" शिक्षित लोगों में भी ऐसा कहनेवाले लोग मिलेंगे ही। अनेक लोग कहेंगे, "मैंने आजीवन धार्मिक बनने का प्रयास किया, पर इसमें कुछ नहीं रखा है।" दूसरी ओर तुम यह दृश्य भी पाओगे; मान लो, कोई रसायनशास्त्री है, जिससे तुम कहते हो, "मैं जीवनभर रसायनशास्त्री बनने का प्रयास करता रहा और देखा कि उसमें कुछ नहीं रखा है। इसलिए मैं रसायनशास्त्र में विश्वास नहीं करता।" वह तुरन्त तुमसे पूछेगा—"तुमने कब इसके लिए प्रयास किया ?" तुम कहोगे,मैं नित्य ही सोने के पहले कहता रहा—ओ रसायनशास्त्र, मेरे पास आ जाओ ! और वह कभी न आया। तुम्हारे प्रयास ही कुछ इसी ढंग के रहे। वह रसायनशास्त्री तुम पर हँसेगा और कहेगा—" भई, तरीका यह नहीं है। क्यों न तुमने किसी प्रयोगशाला में जाकर रसायनों से कभी अपने हाथ को जलाया ? उससे तुम कुछ सीख गये होते।" क्या धर्म के क्षेत्र में भी तुम ऐसा ही प्रयत्न करते हो ? हर विज्ञान में सीखने का एक विशिष्ट तरीका होता है, और धर्म के साथ भी यही बात है। इसके भी अपने विशिष्ट ढंग है। और इस मामले में विश्व के प्रत्येक सिद्ध पैगम्बर से हम कुछ सीख सकते हैं। वे हमें उस तरीके को सिखा सकते हैं, जिससे हम धार्मिक तथ्यों का सन्धान

कर सकते हैं ! उन्होंने जीवन भर संघर्ष करके मन को सुसंस्कृत करने के कुछ उपायों का अनुसन्धान किया है और ऐसी मानसिक स्थितियों का पता लगाया है, जिनमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्यक्षीकरण सम्भव है। इन्हीं स्थितियों में अपने को लाकर उन्होंने धार्मिक तथ्यों का अनुभव किया था। धार्मिक बनने के लिए, धर्म का प्रत्यक्षीकरण करने के लिए तथा पैगम्बर बनने के लिए हमें इन उपायों को अपनाकर साधना करनी पड़ेगी। और वैसा करने पर भी अगर हमारे हाथ कुछ नहीं लगता, तब हमें यह कहने का अधिकार होगा कि धर्म म कुछ नहीं रखा है, क्योंकि मैंने प्रयास करके देखा है कि कुछ हाथ नहीं आता।

सभी धर्मों का यह व्यावहारिक पक्ष है। ससार के हर धर्मग्रन्थ में तुम इसे पाओगे। वहाँ केवल सिद्धान्त की ही चर्चा नहीं रहती, बल्कि सन्तों के जीवन-चरित के माध्यम से साधन का भी वर्णन रहता है। अगर वे स्पष्टरूपेण कुछ विशिष्ट नियमों का जिक्र नहीं भी करते, तो भी महात्माओं की जीवनियों म कुछ विशिष्ट नियमों का निर्वाह तो देखा ही जाता है। इन नियमों के पालन से ही वे अपने को जनसाधारण से विशिष्ट कर लेते हैं और इसी से वे उच्च सिद्धियाँ प्राप्त करते तथा ब्रह्म का दर्शन करते हैं। अगर हम भी ऐसे दर्शन की अनुभूति चाहते हैं, तो हमें भी वैसी साधना करनी पड़ेगी। साधना ही हमें ऊपर उठायेगी। इसलिए वेदान्त के सामने यही योजना है : पहला सिद्धान्तों का निरूपण, लक्ष्य का सन्धान तथा वैसी साधना की शिक्षा, जिससे लक्ष्य की सिद्धि हो सके, धर्म का ज्ञान हो सके, उसकी वास्तविक अनुभूति हो सके।

फिर, साधना कई प्रकार की हो सकती है। चूँकि हमारे

स्वभाव भिन्न-भिन्न तरह के हैं; इसलिए शायद ही कोई ए
साधना दो व्यक्तियों के लिए सम्यक् उपयोगी सिद्ध होगी
हममें से प्रत्येक की अपनी-अपनी विलक्षण मनोवृत्ति होती ;
अतः साधनाएँ भी भिन्न-भिन्न तरह की होंगी ही। कुछ लो
भावुक होते हैं, तो कुछ लोग चिन्तनशील; फिर कुछ लोग ऐ
होते हैं, जो धार्मिक संस्कारों से ही चिपके रहते हैं, मानो उन
ठोस बातें ही पसन्द आती हैं। पर तुमको ऐसा भी व्यक्ति
मिलेगा, जो धार्मिक संस्कार अथवा औपचारिकता पर ध्या
नहीं देता, मानो उसके लिए उनका कोई अर्थ नहीं। फिर ऐस
भी व्यक्ति मिलता है, जो अपने बदन पर तावीजों का बोझ लाद
फिरता है, क्योंकि उन प्रतीकों में उसका अटूट विश्वास रहत
है। जो व्यक्ति भावुक है, वह सर्वत्र अपनी दानशीलता प्रदर्शित
करता चलता है; वह रोता है, प्यार करता है, आदि आदि।
ये विभिन्न स्वभाववाले व्यक्ति एक ही प्रकार की साधना नहीं
कर सकते। अगर परम तत्त्व को पाने के लिए एक ही प्रकार
की साधना होती, तो निस्सन्देह उन सभी व्यक्तियों की मृत्यु
हो जाती, जो उस साधना के अनुकूल नहीं बने हैं। अतः साधना
की विभिन्न विधियों का अनुसन्धान किया गया है। वेदान्त इस
तथ्य को अच्छी तरह समझता है; इसीलिए यह आत्मज्ञान की
विभिन्न विधियों को विश्व के समक्ष रखता है। तुम अपनी
इच्छा से चाहे जिस किसी भी विधि को अपनाओ। और अगर
वह तुम्हारे अनुकूल सिद्ध न हो, तो किसी दूसरी विधि को
अपनाओ। इस दृष्टि से देखने पर लगता है कि यह कितने
महत्त्व की बात है कि विश्व में अनेक धर्म उपलब्ध हैं, अनेक
धर्मगुरु उपलब्ध हैं! यद्यपि कुछ लोग चाहते जरूर हैं कि संसार

भर में एक ही धर्म होता, एक ही धर्मगुरु होते। मुसलमान चाहते हैं कि सारा विश्व इस्लाम ही होता, ईसाई चाहते हैं कि सारा विश्व ईसाई धर्म ही मानता और बौद्ध चाहते हैं कि बौद्ध धर्म ही विश्व-धर्म बनता। परन्तु वेदान्त कहता है कि विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को, अगर वह चाहता है, तो अलग रहने दो; सब की मूलभूत एकता तो बनी ही रहेगी। जितने धर्मगुरु आयेंगे, जितने धर्मग्रन्थ बनेंगे, जितने द्रष्टा आयेंगे, जितनी विधियाँ बनेंगी, विश्व का उतना ही अधिक कल्याण होगा। जिस प्रकार सामाजिक जीवन में जितने अधिक प्रकार की जीविकाएँ रहेंगी, समाज को उतना ही अधिक लाभ होगा, लोगों को जीविका चुनने की उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता रहेगी, उसी प्रकार दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी वैसी ही बात है। यह कितनी अच्छी बात है कि आज हमारे सामने विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ हैं और लोगों को अपने मनोनुकूल शिक्षा पाने की सुविधाएँ प्राप्त हैं। इस तरह भौतिक स्तर पर भी अनेक प्रकार की वस्तुओं की उपलब्धि से हमारी सुविधाएँ बढ़ गयी हैं। क्योंकि अपने मनोनुकूल वस्तु का हम चुनाव कर पाते हैं। ठीक यही बात धर्म के मामले में भी है। ईश्वर की यह सबसे बड़ी कृपा है कि संसार में अनेक धर्मों का सृजन हुआ है। और मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करूंगा कि नित्य ही इनकी और भी वृद्धि हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना धर्म हो।

वेदान्त इस बात को मानता है और इसीलिए यह एक विशिष्ट सिद्धान्त का उपदेश देते हुए अन्य विविध सिद्धान्तों को भी मान्यता देता है। यह किसी भी सिद्धान्त का खण्डन नहीं करता, चाहे तुम ईसाई हो, बौद्ध हो, यहूदी हो अथवा हिन्दू हो, तुम चाहे

जिस किसी भी धार्मिक उपाख्यान में विश्वास करते हो, तुम चाहे नाजरथ के पैगम्बर को मानते हो अथवा मक्का के अथवा हिन्दुस्थान के अथवा अन्य किसी स्थान के, तुम चाहे स्वयं ही कोई पैगम्बर हो—इन बातों से वेदान्त का कोई विरोध नहीं। यह तो केवल उस सिद्धान्त का उपदेश देता है, जो सारे धर्मों की पृष्ठभूमि है और सारे पैगम्बर तथा सन्त और द्रष्टा जिसके दृष्टान्त-स्वरूप और अभिव्यक्तिस्वरूप हैं। तुम्हारे पैगम्बर चाहे जितने अधिक हों, इसमें कोई आपत्ति नहीं। यह तो केवल सिद्धान्त की बात करता है, साधना की विधि तो तुमको चुननी है। तुम चाहे जो भी मार्ग अंगीकार करो, जिस किसी भी धर्मगुरु को मानो, पर इतना ध्यान रखो कि वह मार्ग तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल हो, क्योंकि तभी तुम्हारा विकास हो सकेगा।

———

धर्म एवं विज्ञान

अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। विश्व में, केवल धर्म ही ऐसा विज्ञान है, जिसमें निश्चयत्व का अभाव है, क्योंकि अनुभव पर आश्रित विज्ञान के रूप में उसकी शिक्षा नहीं दी जाती। ऐसा नहीं होना चाहिए, परन्तु कुछ ऐसे लोगों का एक छोटा समूह भी सर्वदा विद्यमान रहता है, जो धर्म की शिक्षा अनुभव के माध्यम से देते हैं, ये लोग रहस्यवादी कहलाते हैं और वे हरेक धर्म में एक ही वाणी बोलते हैं और एक ही सत्य की शिक्षा देते हैं. यही धर्म का यथार्थ विज्ञान है। जैसे गणितशास्त्र विश्व के किसी भी भाग में भिन्न-भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार रहस्यवाद भी एक दूसरे से विभिन्न नहीं होते, वे सभी एक ही प्रकार के होते हैं तथा उनकी स्थिति भी एक ही होती है। उन लोगों का अनुभव भी एक ही है और यही अनुभव धर्म का रूप धारण कर लेता है।

धर्मार्थी व्यक्ति पहले किसी धर्म-संघ (सम्प्रदाय) में, धार्मिक शिक्षा ग्रहण करता है और तब उसका अभ्यास करता है। वह अनुभव को अपने विश्वास का आधार नहीं बनाता। परन्तु रहस्यवादी साधक सत्य का अन्वेषण आरम्भ करता है, पहले उसका अनुभव करता है, और तब अपने मत को सूत्रबद्ध करता है। धर्म-संघ दूसरों के अनुभव को अपनाता है, परन्तु रहस्यवादी का अनुभव अपना ही होता है। धर्म-संघ बाहर से भीतर की ओर जाता है, रहस्यवादी भीतर से बाहर आता है।

धर्म तात्त्विक (आध्यात्मिक) जगत् के सत्यों से उसी प्रकार सम्बन्धित है, जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत् के सत्यों से। रसायनशास्त्र पढ़ने के लिए प्रकृति की पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता है। धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तुम्हारी पुस्तक अपनी बुद्धि तथा हृदय है। सन्त लोग प्राय: भौतिक विज्ञान से अनभिज्ञ ही रहते हैं, क्योंकि वे एक भिन्न पुस्तक, अर्थात् आन्तरिक पुस्तक पढ़ा करते हैं, और वैज्ञानिक लोग भी प्राय: धर्म के विषय में अनभिज्ञ ही रहते हैं, क्योंकि वे भी भिन्न पुस्तक अर्थात् बाह्य पुस्तक के पढ़नेवाले हैं।

सभी विज्ञानों की अपनी विशेष पद्धतियाँ होती हैं। धर्म-विज्ञान की भी हैं। उसकी पद्धतियों की सख्या तो और भी अधिक है, क्योंकि उसकी विषय-सामग्री भी अधिक प्रचुर होती है। मानव-बुद्धि बाह्य जगत् की भाँति समरूप नहीं है। प्रकृतियों की भिन्नता के अनुसार प्रणालियाँ भी भिन्न होनी चाहिए। जिस प्रकार किसी मनुष्य में कोई एक प्रधान होती है--एक देखता अधिक है, दुसरा सुनता अधिक है--उसी प्रकार कोई प्रधान मानसिक संवेदन भी होता है; और उसी के द्वार से होकर मनुष्य को अपने मन तक पहुँचना आवश्यक है। फिर भी, सभी मानसों के अभ्यन्तर में एक प्रकार की एकता विद्यमान रहती है और एक ऐसा भी विज्ञान है, जिसे सभी पर लागू किया जा सकता है। यह धर्मरूपी विज्ञान जीवात्मा के विश्लेषण पर आधारित है। उसका कोई सम्प्रदाय नहीं है।

धर्म का एक ही स्वरूप सभी के लिए उपयुक्त नहीं होगा। सभी धर्म एक सूत्र में पुहे मोतियों के समान हैं। हम लोगों को अन्य सब बातों को अलग रखते हुए सभी में व्यक्तित्व को खोजने

की चेष्टा करनी चाहिए। मनुष्य किसी धर्म में जन्म नहीं लेता, उसका धर्म तो उसकी आत्मा में ही सन्निहित होता है। कोई पद्धति, जिससे व्यक्तिगत विशेषता का नाश होता है, वह अन्ततोगत्वा विनाशक सिद्ध होती है। हर जीवन में एक धारा प्रवाहित हो रही है, और वही उसे अन्त में ईश्वर को प्राप्त करा देगी। हरेक धर्म का लक्ष्य तथा साध्य भगवत्प्राप्ति ही है। सभी शिक्षाओं से बड़ी शिक्षा केवल भगवान की ही आराधना करने की है। यदि हर मनुष्य अपना आदर्श चुन ले और उसको अपनाये रहें, तो सभी धार्मिक वाद-विवाद मिट जायँगे।

भगवत्प्राप्ति ही धर्म है

मनुष्य के द्वारा दिये गये ईश्वर के नामों में सब से महा नामन् सत्य है। सत्य भगवत्प्राप्ति का फल है; अतः उसे आत्मा के भीतर खोजो। सभी पुस्तकों और औपचारिकताओं से परे हो जाओ और अपनी आत्मा को अपना स्वरूप देखने दो। श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'पुस्तकें' हमें विक्षिप्त तथा विमूढ़ बनाती हैं। प्रकृति के द्वन्द्वों से परे हो जाओ। जिस क्षण तुम सम्प्रदाय, औपचारिकता तथा कर्मकाण्ड को ही सर्वस्व समझ लेते हो, उसी क्षण तुम बन्धन में बँध जाते हो। दूसरों को सहायता देने के लिए इनका उपयोग करो, परन्तु इस बात से सावधान रहो कि ये सब बन्धन न बन जायँ। धर्म एक ही है, परन्तु इसकी साधना में अनेकता होनी ही चाहिए। अतएव, सभी अपना-अपना धार्मिक सन्देश तो दें, परन्तु दूसरे धर्मों में कोई त्रुटि न देखें। यदि प्रकाश का दर्शन चाहते हो, तो औपचारिकता से परे जाना होगा। भगवान् के ज्ञानामृत को खूब छककर पियो। जो मनुष्य यह जान लेता है कि 'मैं वही हूँ', वह चिथड़ों में लिपटे रहने पर भी सुखी रहता है। उस शाश्वत तत्त्व में प्रवेश करो और शाश्वत शक्ति के साथ वापस आ जाओ। दास सत्य का अन्वेषण करने जाता है और स्वतन्त्र होकर लौटता है।

स्वार्थोन्मूलन ही धर्म है

विश्व के अधिकारों का विभाजन कोई नहीं कर सकता। अधिकार के विषय में बात करने का अर्थ है, सीमित होना। यह 'अधिकार' नहीं परन्तु 'उत्तरदायित्व' है। विश्व में कहीं भी कोई अशुभ हो, उसके लिए प्रत्येक उत्तरदायी है। अपने भाई से कोई अपने को पृथक् नहीं कर सकता। जो क्रियाएँ विश्व से एकत्व स्थापित करें, वे पुण्य हैं और जो विभेद स्थापित करें, वे पाप हैं। तुम उस अनन्त के ही एक अंश हो। यही तुम्हारा स्वभाव है। अतः तुम अपने भाई के रक्षक हो।

जीवन का प्रथम लक्ष्य है, ज्ञान तथा दूसरा लक्ष्य है सुख। ज्ञान तथा सुख मुक्ति की ओर ले जाते हैं। परन्तु जब तक हर प्राणी (चींटी या कुत्ता भी) मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक कोई भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जब तक सभी सुखी नहीं हो जाते, कोई भी सुखी नहीं हो सकता। जब तुम किसी को क्षति पहुँचाते हो, तो अपने आपको ही क्षति पहुँचाते हो, क्योंकि तुम और तुम्हारा भाई एक ही हैं। सचमुच में वही योगी है. जो अपने को सम्पूर्ण विश्व में, और सम्पूर्ण विश्व को अपने में देखता है। आत्म-प्रतिष्ठापन नहीं, आत्मत्याग ही सर्वोच्च लोक का धर्म है। यह दुनिया इसीलिए इतनी बुरी है, क्योंकि--'अशुभ का विरोध न करो'--ईसा के इस उपदेश पर चलने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। समस्या का हल निःस्वता से ही हो सकता है। धर्म की उत्पत्ति प्रखर आत्मत्याग से ही होती है। अपने लिए कुछ भी मत चाहो। सब दूसरों के लिए करो। यही भगवान में निवास, विवरण और उसमें आत्म-समाहित कहा जात ।

धर्म का प्रमाण

धर्म के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न है : 'यह इतना अवैज्ञानिक क्यों है ?' यदि धर्म विज्ञान है, तो अन्य विज्ञानों की तरह यह सुनिश्चित क्यों नहीं है ? ईश्वर तथा स्वर्ग इत्यादि में सभी प्रकार के विश्वास केवल कल्पना, केवल अन्धश्रद्धा हैं। इन सब के विषय में कोई निश्चित धारणा प्रतीत नहीं होती। धर्मविषयक हमारे विचार सर्वदा बदलते रहते हैं। मन हमेशा प्रवहमाना रहता है।

मनुष्य अपरिवर्तनशील तत्त्व अर्थात् आत्मा है, या वह सद, बदलता रहनेवाला कोई पदार्थ है ? आदि बौद्ध धर्म को छोड़कर सभी धर्मों की मान्यता है कि मनुष्य एक आत्मा है, अद्वय है एक अविनाशी एवं अमर तत्त्व है।

आदि बौद्ध धर्म के अनुयायी यह मानते हैं कि मनुष्य परिणामतः सदा परिवर्तनशील है; उसकी चेतना अकल्पनीय शीघ्रता से होनेवाले परिवर्तनों का प्रायः अनन्त अनुक्रम है। और हरेक परिवर्तन मानो एक दूसरे से असम्बद्ध तथा स्वयंनिष्ठ होता है, और इस प्रकार अनुक्रम अथवा कारणता के सिद्धान्त को वे लोग अग्राह्य समझते हैं।

यदि किसी इकाई का अस्तित्व है, तो वह सत् पदार्थ भी होगा। इकाई सदा अमिश्र होती है। अमिश्र तत्त्व किसी वस्तु का मिश्रण नहीं होता। यह किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं रहता है। यह स्वनिष्ठ तथा अमर तत्त्व है।

आदि बौद्धों की मान्यता है कि हरेक वस्तु असम्बद्ध है; कोई वस्तु इकाई नहीं है; तथा मनुष्य के इकाई (अमिश्र) होने का सिद्धान्त केवल विश्वास मात्र है, जो प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

अतः महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य एक इकाई है, या एक सदा परिवर्तनशील वस्तु है ?

इस प्रश्न को सिद्ध करने एवं इसका उत्तर देने का एक ही मार्ग है। मन की वृत्तियों को निरुद्ध कर दो, और तब यह बात सिद्ध हो जायगी कि मनुष्य एक इकाई, मौलिक है। सभी परिवर्तन मुझमें हैं, मेरे बुद्धि-तत्त्व अर्थात् चित्त में हैं। मैं परिवर्तन नहीं हूँ। यदि मैं ऐसा होता, तो उनको रोक नहीं सकता था।

हरेक मनुष्य अपने को और दूसरे को विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि यह दुनिया बहुत अच्छी है तथा वह पूर्णरूपेण सुखी है। परन्तु जब वह जीवन में अपनी प्रेरणाओं के प्रश्न पर जिज्ञासा करने के लिए रुकता है, तो वह यह अनुभव करता है कि अमुक-अमुक वस्तुओं के लिए वह जो संघर्ष करता रहता है, वह इसलिए कि वह ऐसा करने को वाध्य है। उसे अनिवार्यतः गतिशील होना है। वह रुक नहीं सकता, अतः अपने को यह समझाने का प्रयत्न करता है कि सचमुच में इस वस्तु या उस वस्तु को चाहता है। जो मनुष्य को यह विश्वास दिलाने में सफल हो जाता है कि उसकी जिन्दगी बड़े मजे में कट रही है, वह बढ़िया शारीरिक स्वास्थ्यवाला होता है। ऐसा मनुष्य अपनी इच्छाओं को, बिना किसी प्रश्न के तत्काल ही पूरा कर लेता है। वह अपनी उस आन्तरिक शक्ति की प्रेरणा से संचालित होता है, जो उसे बिना संकल्प के ही कार्य करने के लिए इस तरह प्रेरित

करती रहती है कि वह कार्य इसलिए करता है कि वह उ
करना चाहता है। परन्तु जब उस मनुष्य को प्रकृति की ठोक
प्रचुर परिमाण में प्राप्त हो लेती हैं, तथा जब उसको काफी चो
और घाव लग लेते हैं, तब वह इन सब का अर्थ जानने के लि
प्रश्न करने लगता है; और जैसे-जैसे उसको अधिक पीड़ा मिलत
है और वह अधिक विचार करता है, वैसे ही वैसे वह समझ
लगता है कि वह अपने नियन्त्रण से परे किसी अन्य शक्ति से
संचालित है, और वह कोई कार्य इसलिए करता है कि उसे कर
के लिए वह बाध्य है। तब वह विद्रोह करना शुरू कर देता है
और युद्ध का प्रारम्भ हो जाता है।

परन्तु, इन समस्त कष्टों से यदि छुटकारा पाने का रास्ता है, तो वह हमारे अन्दर है, हम सत्य की प्राप्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं। हम लोग निसर्गतः ही यह प्रयत्न करते हैं। मानवात्मा की सृष्टि ही ईश्वर को आच्छादित कर देती है, इसीलिए ईश्वर के आदर्श-सम्बन्धी इतनी विभिन्नताएँ हैं। जब यह सृष्टि रुक जाती है, तभी हम ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। यह ब्रह्म आत्मा में है, सृष्टि में नहीं। अतः सृष्टि को निरुद्ध करके ही हम ब्रह्म को जान सकते हैं। जब हम अपने विषय में सोचते हैं, तो देह के विषय में सोचते हैं, और जब ईश्वर के विषय में सोचते हैं, तो उसकी भी कल्पना देहधारी के रूप में ही करते हैं। चित्तवृत्तियों का निरोध, जिससे आत्मा प्रकट हो जाय, यही कर्तव्य है। इसकी साधना देह से ही आरम्भ होती है। प्राणायाम शरीर को प्रशिक्षित करता है, तथा उसको समन्वित कर देता है, प्राणायाम का लक्ष्य ध्यान तथा एकाग्रता की प्राप्ति है। यदि तुम एक क्षण के लिए भी पूर्णतया निश्चल हो सको,

लक्ष्य तक पहुँच गये। इसके बाद भी बुद्धि काम करती
परन्तु वह वही पुरानी बुद्धि नहीं रह जायगी। तुम अपने
ी रूप में जान लोगे, जो तुम हो--अर्थात् अपनी यथार्थ
। एक क्षण के लिए अपनी चित्तवृत्ति का निरोध कर लो,
म्हारे यथार्थ स्वरूप की सत्यता तुम्हारे हृदय में झलक
; तब मुक्ति हस्तगत हो जाती है और इसके बाद बन्धन
हता। यह इस सिद्धान्त से प्रमाणित होता है कि काल के
ण को जान लेने से समग्र काल का ज्ञान हो जाता है,
समग्र काल एक क्षण का ही त्वरित अनुक्रमण है। एक
धिकार कर लो--एक क्षण को पूर्णतया जान लो--और
मिल जायगी।

ादि बौद्धों को छोड़कर, सभी धर्म ईश्वर तथा आत्मा को
। हैं। अर्वाचीन बौद्ध ईश्वर तथा आत्मा में विश्वास करते
र्मी, स्यामी, चीनी इत्यादि आदि बौद्ध है।

ॉर्नल्ड कृत 'एशिया की ज्योति' (Light of Asia) बौद्ध
की अपेक्षा वेदान्त का प्रतिनिधित्व अधिक करती है।

धर्म का सार-तत्त्व

(अमेरिका में दिये गये एक भाषण का विवरण)

फ्रान्स के निवासियों का बहुत काल तक नारा 'मानव अधिकार' था; अमेरिका में 'नारियों के अधिकार' अभी जनता के कानों को आकृष्ट करते हैं; भारत में हम लोग स देवताओं के अधिकारों की ही चिन्ता करते आये हैं।

वेदान्त के अन्तर्गत सभी सम्प्रदाय आ जाते हैं। भारत में ह लोगों का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। मान लो कि मेरे ए लड़का है, तो मैं उसे किसी धर्म की शिक्षा नहीं दूंगा, परन्तु उ मन को एकाग्र करने की कोई साधना और प्रार्थना की को एक पंक्ति बताऊँगा। प्रार्थना से तुम लोग जैसा समझते हो वैसी प्रार्थना नहीं, परन्तु ऐसी कि 'मैं उसका ध्यान करता हू जो कि विश्वस्रष्टा है। वह मेरी बुद्धि को निर्मल करे।' पश्चात जब वह पर्याप्त बड़ा हो जाता है, तब वह विभिन्न दर्शनों और उपदेशों को सुनता है; और फिर जिसे वह सत्य समझता है अन्ततः उस शिक्षा को वह ग्रहण कर लेता है। तब वह उस गुरु का, उस सत्य का उपदेश करनेवाले गुरु का शिष्य हो जाता है, जो वह ईसा, बुद्ध या मुहम्मद की पूजा कर सकता है। हम लोग इनमें से सभी के अधिकारों तथा हरेक जीव को अपने इष्ट देवता या चुने हुए मार्ग को अपनाने का अधिकार मानते हैं। अतः यह नितान्त सम्भव है कि आपसी विद्वेष से पूर्णतः मुक्त रहते हुए एक ही समय मेरा पुत्र बौद्ध धर्मानुयायी हो, मेरी पत्नी ईसाई हो तथा मैं मुसलमान होऊँ।

हम लोग यह स्मरण कर प्रसन्न होते हैं कि सभी मार्ग ईश्वर

की ओर ले जाते हैं तथा विश्व का सुधार इस पर निर्भर नहीं करता है कि सभी ईश्वर को हमारी ही आँखो से देखें। हम लोगों का आधारभूत विचार यह है कि तुम्हारा सिद्धान्त मेरा नहीं हो सकता और न मेरा तुम्हारा। मैं अपना सम्प्रदाय आप ही हूँ। यह सच है कि हम लोगों ने भारत में एक धार्मिक पद्धति स्थापित की है, जिसके विषय में हम विश्वास करते हैं कि संसार भर में केवल वही एकमात्र बुद्धिसंगत धार्मिक पद्धति है। परन्तु हम लोगों का उसकी बुद्धिसंगतता पर विश्वास, उसके सभी ईश्वरान्वेषकों के अपने में पूर्णतः अन्तर्गत करने, सभी प्रकार की उपासनाओं के प्रति उदारभाव रखने तथा इस विश्व में ईश्वर के प्रति विकासशील भावों को सदैव ग्रहण करने के सामर्थ्य के कारण है। हम लोग अपनी पद्धति की अपूर्णता स्वीकार करते हैं, क्योंकि ब्रह्म सभी पद्धतियों से अतीत है, इस सत्य को स्वीकार करने में ही चिरन्तन प्रगति की सम्भावना एवं विकास सन्निहित हैं। सम्प्रदाय, पूजा-पद्धतियाँ तथा धार्मिक पुस्तकें, जहाँ तक मनुष्य को अपने स्वरूप की प्राप्ति में साधनों का काम करती हैं, ठीक हैं। परन्तु जब मनुष्य वह ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह इन सभी वस्तुओं को त्याग देता है। 'मैंने वेदों को अस्वीकार किया', ये वेदान्त दर्शन के अन्तिम शब्द हैं। कर्मकाण्ड, भजन तथा धर्मग्रन्थ, जिनके अन्तर्गत चलकर उसने मुक्ति प्राप्त की, वे सभी उसके लिए अन्तर्धान हो जाते हैं। सोऽहम्, सोहम्--'मैं वह हूँ'--शब्द उसके ओठों से फूट पड़ता है। उसके लिए, ईश्वर को 'तू' कहना ईश-तिरस्कार है, क्योंकि वह 'पिता में एकत्व' प्राप्त कर लेता है।

व्यक्तिगत रूप से मैं वेदों से उतना ही ग्रहण करता हूँ जितना

बुद्धिसम्मत है। वेदों के अनेक अंश प्रतीयमानत: विरोधात्मक हैं। पश्चिम में जिस अर्थ में समझा जाता है, उस अर्थ में वे अन्त:स्फुरित नहीं हैं, परन्तु उन्हें ईश्वर तथा सर्वज्ञता सम्बन्धी हमारे समस्त ज्ञान की समष्टि माना जाता है। परन्तु यह कहना कि केवल वेद नामक ग्रन्थों में ही यह ज्ञान सीमित है, निरा वाक्छल होगा। हम जानते हैं कि प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों में यह ज्ञान विभिन्न अंशों में प्रतिपादित है। मनु का कहना है कि वेदों के बुद्धिसंगत अंश ही वेद हैं। हमारे बहुतसे दार्शनिकों ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। दुनिया के सभी धर्मग्रन्थों मे केवल वेद ही ऐसे हैं, जो घोषणा करते हैं कि वेदों का अध्ययन गौण है।

वास्तविक अध्ययन वह है, 'जिसके द्वारा हम लोग शाश्वत को प्राप्त करते हैं', और वह न अध्ययन से प्राप्त होता है, न विश्वास से, न तर्क से, अपितु अतिचेतन प्रत्यक्ष तथा समाधि से प्राप्त होता है। जब मनुष्य इस पूर्णावस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह सगुण ईश्वर की अवस्थावाला हो जाता है—'मैं और मेरे पिता एक हैं।' वह उस नित्य ब्रह्म के साथ अपनी एकरूपता अनुभव करता है, तथा स्वयं का सगुण ईश्वर सदृश प्रक्षेप करता है। माया अर्थात् अज्ञान के कुहरे द्वारा देखा गया ब्रह्म ही सगुण ईश्वर है।

जब हम उस ब्रह्म के पास पंचेन्द्रियों द्वारा पहुचते है, तब हम सगुण ईश्वर के रूप में ही उसका दर्शन कर सकते हैं। भाव यह है कि आत्मा का विषयीकरण नहीं किया जा सकता। ज्ञाता स्वयं अपने आपको कैसे जान सकता है? परन्तु वह अपनी एक छाया जैसी तो डाल ही सकता है, और उस छाया का महानतम स्वरूप तथा आत्मा के विषयीकरण का प्रयत्न ही सगुण ईश्वर

है। आत्मा तो नित्य विषयी है और हम लोग नित्य ही उसको विषय बनाने के लिए संघर्षरत हैं। उस संघर्ष का फल यह दृश्य जगत् है, जिसे हम जड़ कहते हैं। परन्तु ये सब तुच्छ प्रयत्न हैं, मनुष्य के द्वारा सम्भव आत्मा का जो सर्वोच्च विषयीकरण है, वह है सगुण ईश्वर।

तुम्हारे एक पाश्चात्य विचारक का कहना है कि 'एक सत् ईश्वर, मनुष्य की सबसे महान् कृति है।' जैसा मनुष्य, वैसा ही परमेश्वर। मनुष्य ईश्वर को मानवीय अभिव्यक्तियों के बिना नहीं देख सकता है। जो चाहे कह लो, जो चाहे प्रयत्न कर लो परन्तु तुम ईश्वर की धारणा मनुष्यवत् करने के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकते; और जैसे तुम हो, वैसे ही ईश्वर। एक अज्ञानी मनुष्य से शिव की मूर्ति बनाने को कहा गया। बहुत दिनों के कठिन संघर्ष के उपरान्त वह एक बन्दर की मूर्ति गढ़ सका। अतः जब हम लोग ईश्वर के सम्बन्ध में, उसकी अखण्ड परिपूर्णता की अवस्था में विचार करते हैं, तो हमें घोर असफलता प्राप्त होती है, क्योंकि हम लोग अपनी वर्तमान प्रकृति के द्वारा ईश्वर को मनुष्यवत् ही जानने के लिए विवश हैं, यदि भैंसे ईश-पूजन करना चाहें, तो वे अपनी प्रकृति के अनुसार ईश्वर को महामहिष के रूप में ही देखेंगे। यदि एक मछली ईश-पूजन करना चाहे, तो ईश्वर के प्रति उसकी धारणा अनिवार्यतः एक महामत्स्य की होगी, और इसी तरह मनुष्य भी ईश्वर को मनुष्य ही जैसा समझता है। कल्पना करो कि मनुष्य, महिष तथा मत्स्य इतने ही प्रकार के विभिन्न बर्तन हैं और ये बर्तन समुद्ररूपी ईश्वर में अपने आकार तथा पात्रता के अनुसार भरने को जाते हैं। मनुष्य में वह जल मनुष्य का रूप धारण करेगा, महिष में

महिष का रूप तथा मत्स्य में मत्स्य का रूप धारण करेगा, परन्तु इन सभी बर्तनों में उसी समुद्ररूपी ईश्वर का जल होगा।।

ईश्वर को सगुण रूप से दो ही प्रकार के लोग नही पूजते हैं—एक नरपशु जिसका कोई धर्म नहीं है तथा अपनी मानवीय प्रकृति के बन्धनों को अतिक्रमण कर चुकनेवाला परमहंस। उसके लिए तो समस्त जगत् ही उसका स्वरूप है। केवल ऐसा ही मनुष्य (परमहंस) ईश्वर की पूजा, जैसा कि ईश्वर तत्त्वत: है, कर सकता है; एक नरपशु इसलिए पूजा नहीं करता कि वह अज्ञानी है और एक जीवन-मुक्त इसलिए पूजा नहीं करता कि वह स्वयं अपने आप में ईश्वर का साक्षात्कार कर चुकता है। वह सोऽहम् सोऽहम्—'मैं वही हूँ'—ऐसा कहता है, तब वह किस प्रकार अपने आपकी पूजा करेगा ?

मैं तुमको एक छोटीसी कथा सुनाता हूँ। एक सिंह का बच्चा था, जिसकी माँ ने मरते समय उसे भेड़ों में छोड़ दिया था। भेड़ों ने उसे खिलाया-पिलाया तथा आश्रय दिया। वह सिंह शीघ्र ही बढ़ गया, और जब कभी भेड़ें में-में चिल्लातीं तो वह भी में-में चिल्लाता था। एक दिन एक अन्य सिंह वहाँ पहुँचा। उस सिंहरूपी भेड़ को अन्य भेड़ों के साथ मिमियाते देख उसने आश्चर्यचकित होकर पूछा—"तुम यहाँ क्या करते हो ?" उसने कहा—"में-में मैं एक क्षुद्र भेड़ा हूँ, एक क्षुद्र भेड़ा हूँ, मुझे डर लगता है।" पहले सिंह ने गरजकर कहा, "मूर्ख ! मेरे साथ चल, मैं तुझे दिखलाऊँगा।" वह उसे एक शान्त जल-स्रोत के पास ले गया, और उसने उसका प्रतिबिम्ब उसे दिखाया और कहा, "तुम सिंह हो, मुझे देखो, भेड़ों को देखो, अपने आपको देखो।" तब उस 'भेड़-सिंह' ने देखा और कहा—"में-में मैं

तो भेड़ के जैसा नहीं लगता—मैं तो सचमुच ही सिंह हूँ!" और इतना कहकर उसने गर्जन किया, जिससे पहाड़ियाँ भीतर तक काँप गयीं।

यही बात है, हम लोग भेड़ों के स्वभाव का आवरण धारण किये हुए सिंह हैं। हम लोग अपने आसपास के आवरण के द्वारा सम्मोहित कर शक्तिहीन बना दिये गये हैं। वेदान्त का क्षेत्र स्वयं को विसम्मोहित करना है। मुक्ति हमारा ध्येय है। मैं इस सिद्धान्त से असहमत हूँ कि प्रकृति के नियमों का पालन ही मुक्ति है। मैं नहीं समझता कि इसका क्या अर्थ हो सकता है। मनुष्य की प्रगति के इतिहास के अनुसार प्रकृति के उल्लंघन से ही उस प्रगति का निर्माण हुआ है। यह भले ही कहा जा सकता हैं कि निम्नतर नियमों पर उच्चतर नियमों द्वारा विजय प्राप्त हुई, परन्तु वहाँ भी विजेता मन मुक्ति का अन्वेषण कर रहा था। जैसे ही उसने देखा कि वह संघर्ष नियमों के कारण ही था, उसने उस नियम को भी जीतना चाहा। इस प्रकार लक्ष्य सदा ही मुक्ति है। वृक्ष कभी प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते। मैंने कभी किसी गाय को चोरी करते हुए नहीं देखा, कोई घोंघा कभी झूठ नहीं बोला। फिर भी वे मनुष्य से बड़े नहीं हैं।

नियमों का पालन अन्ततोगत्वा हम लोगों को एकदम जड़ बना देगा—भले ही वह समाज में हो, राजनीति अथवा धर्म में हो। यह जीवन की एक उत्कट अभिव्यंजना (assertion) है। नियमों के आधिक्य का अर्थ है मृत्यु। कोई राष्ट्र हिन्दुओं के समान इतने सारे नियमों का पालन नहीं करता, जिसका फल हुआ राष्ट्रीय मृत्यु। परन्तु हिन्दुओं का एक विशिष्ट विचार भी था। उन लोगों ने धर्म में किसी अन्ध नियम या जड़ सिद्धान्त की स्थापना नहीं की जिससे धर्म की उच्चतम प्रगति हुई, धर्म

के विषय में हम लोग व्यावहारिक हैं, परन्तु तुम लोग नहीं।

अमेरिका में कुछ लोग इकट्ठे होते हैं और कहते हैं, "
लोग एक स्टाक कम्पनी बनायेंगे।' पाँच मिनटों में यह
जाता है। भारत में बीस मनुष्य इतने ही सप्ताह तक स्ट
कम्पनी पर बहस कर सकते हैं, फिर भी वह स्थापित नहीं हो
परन्तु यदि कोई यह विश्वास करता है कि वह अपना हाथ
चालीस वर्षों तक हवा में ऊपर उठा रखे, तो उसे ज्ञान प्रा
हो जाय, तो वह ऐसा ही करेगा! अतः हम लोग अपने म
में और तुम लोग अपने मार्ग में व्यावहारिक हो।

परन्तु आत्मज्ञान-प्राप्ति के लिए मार्गों का भी मार्ग प्रेम है
जब कोई प्रभु से प्रेम करता है, तब सम्पूर्ण जगत् उसका प्या
हो जाता है, क्योंकि वह उसी का है। भक्त कहता है--"सभ
उसके हैं, और वह प्रेमी है; मैं उसे प्यार करता हूँ।" इस
प्रकार सभी वस्तुएँ भक्त के लिए पवित्र हैं, क्योंकि सभी वस्तु
उसी की हैं। तब हम दूसरों को कैसे चोट पहुँचा सकते हैं
तब हम दूसरों से प्रेम किये बिना रह कैसे सकते हैं! ईश्वर
भक्ति के साथ, फलस्वरूप, अन्ततोगत्वा सभी से प्रेम उत्पन्न ह
जायगा। हम भगवान् के जितना ही निकट पहुँचते हैं, उतना ह
अधिक हम देखने लग जाते हैं कि सभी वस्तुएँ उन्हीं में स्थित है
तथा हमारा हृदय प्रेम का अविरल झरना बन जाता है। इस
प्रेम के प्रकाश के सान्निध्य में मनुष्य का परिवर्तन हो जाता है
और तब वह अन्त में इस सुन्दर तथा प्रेरणादायक सत्य की
अनुभूति कर लेता है कि भक्ति, भक्त तथा भगवान् सचमुच में
एक ही हैं।

हमारे अन्य प्रकाशन

-०◡०◡०-

श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग (भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का सुविस्तृत जीवनचरित)-तीन खण्डों में; भगवान् श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग शिष्य स्वामी सारदानन्दजी द्वारा मूल बँगला में लिखित प्रामाणिक, सुविस्तृत जीवनी का हिन्दी अनुवाद। डबल डिमाई आकार; आर्टपेपर के नयनाभिराम जैकेटसहित।

प्रथम खण्ड-('पूर्ववृत्तान्त तथा बाल्यजीवन' एवं 'साधकभाव')—१४ चित्रों से सुशोभित, पृष्ठसंख्या ४७६; मूल्य रु. १६

द्वितीय खण्ड - ('गुरुभाव-पूर्वार्ध' एवं 'गुरुभाव-उत्तरार्ध')—चित्रसंख्या ७; पृष्ठसंख्या ५१०; मूल्य रु. ११

तृतीय खण्ड - ('श्रीरामकृष्णदेव का दिव्यभाव और नरेन्द्रनाथ')—चित्रसंख्या ७; पृष्ठसंख्या २९६; मूल्य रु. ९

"ईश्वरावतार एक दैवी विभूति की जीवनी, जो लाखों करोड़ों लोगों का उपास्य हो, स्वयं उन्हीं के किसी शिष्य द्वारा इस ढंग से शायद कहीं भी लिखी नहीं गयी है। पाठकों को इस ग्रन्थ में एक विशेषता यह भी प्रतीत होगी की ओजपूर्ण तथा हृदयग्राही होने के साथ ही इसकी शैली आधुनिक तथा इसका सम्पूर्ण कलेवर वैज्ञानिक रूप से सँजोया हुआ है।

"प्रस्तुत पुस्तक विश्व के नवीनतम ईश्वरावतार भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की केवल जीवन-आख्यायिका ही नहीं वरन् इस दिव्य जीवन के आलोक में किया हुआ संसार के विभिन्न धर्मसम्प्रदायों तथा मतमतान्तरों का एक अध्ययन भी है।"

श्रीरामकृष्णलीलामृत-(भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का जीवनचरित)—दो भागों में; पं. द्वारकानाथ तिवारीकृत, महात्मा गाँधी द्वारा लिखी हुई भूमिकासहित; आकर्षक जैकेटसहित; प्रथम भाग, पृष्ठसंख्या ४०० + १५; मूल्य रु. ८.५०; द्वितीय भाग, पृष्ठसंख्या ४५४, मूल्य रु. ८५०

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत—तीन भागों में; 'म' कृत; संसार की प्रायः
ो प्रमुख भाषाओं में प्रकाशित; अनुवादक—पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी
राला'; सचित्र, सजिल्द, नयनाभिराम जैकेटसहित, प्रथम भाग, पृष्ठ-
या ५८३ + १२; मूल्य रु. ९.००; द्वितीय भाग, पृ.सं. ६३२; मूल्य रु
.५०; तृतीय भाग, पृ सं. ७२०; मूल्य रु. १०.००

माँ सारदा-(भगवान् श्रीरामकृष्णदेव लीलासहधर्मिणी का विस्तृत
ान-चरित्र)-स्वामी अपूर्वानन्दकृत, सजिल्द, आर्ट पेपर के आकर्षक जैकेट-
त, ८ चित्रों से सुशोभित, पृष्ठसंख्या ४५१ + ७; मूल्य रु.८.००

श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ—(भगवान् की श्रीरामकृष्णदेव एवं श्रीमाँ
दादेवी की एकत्ररूप में अत्यन्त आकर्षक ढंग से लिखी हुई जीवनी)
मी अपूर्वानन्दकृत; सचित्र, आकर्षक जैकेटसहित, पृष्ठसंख्या २७७,
र रु. ६.००

विवेकानन्द चरित—(हिन्दी में स्वामी विवेकानन्दजी की एकमात्र
ाणिक विस्तृत जीवनी)—सुविख्यात लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार-
सजिल्द, सचित्र, आर्ट पेपर के आकर्षक जैकेटसहित, पृष्ठसंख्या ५४५,
रु. १०.००

प्रसंग में स्वामी शिवानन्द-स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा संकलित
मूल्य रु. ११.५०

ानन्द-स्मृतिसंग्रह-संकलक स्वामी अपूर्वानन्द (प्रथम भाग) रु ७ ५०
(द्वितीय भाग) रु.८.५०
(तृतीय भाग) रु १० ००

ामकृष्ण-भक्तमालिका-(प्रथम भाग) रु.८.५०, (द्वि.भाग) रु.१०.००

ार्थ-प्रसंग-स्वामी विरजानन्दकृत रु ३.७५

ार्य शंकर-स्वामी अपूर्वानन्दकृत रु. ५.५०

स्वामी विवेकानन्दकृत पुस्तकें

भारत में विवेकानन्द--(भारतीय व्याख्यान) रु. १०.००

विवेकानन्द-राष्ट्र को आह्वान रु. ०.८०

विवेकानन्दजी के संग में रु. ७.२०

राजयोग-(पातंजल योगसूत्र और व्याख्यासहित)	६.००	स्वाधीन भारत! जय हो!	२.००
ज्ञानयोग	६.००	प्राच्य और पाश्चात्य	३ ००
भक्तियोग	३.००	सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार	२.२०
कर्मयोग	३.००	भगवान रामकृष्ण--धर्म तथा संघ	२.४०
प्रेमयोग	४.००	विवेकानन्दजी के सान्निध्य में	२.२५
सरल राजयोग	०.८०	भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध	२.२५
पत्रावली (प्रथम भाग)	७.००	भारतीय नारी	२.७०
पत्रावली (द्वितीय भाग)	६.००	चिन्तनीय बातें	२.१०
देववाणी	५.५०	जाति संस्कृति और समाजवाद	३.००
भगवान बुद्ध का संसार को सन्देश एवं अन्य व्याख्यान	४.१०	विविध प्रसंग	३.२५
स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप	४.५०	मेरे गुरुदेव	१.६०
महापुरुषोंकी जीवनगाथाएँ	३.००	नारद-भक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान	१.२०
धर्मविज्ञान	३.८०	ज्ञानयोग पर प्रवचन	१.२५
वेदान्त	४.००	शिक्षा	१ २५
धर्मरहस्य	२.२०	हिन्दू धर्म के पक्ष में	०.७५
आत्मतत्त्व	२ ५०	हमारा भारत	०.७५
विवेकानन्दजी की कथाएँ	२ ८०	शिकागो वक्तृता	१.००
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	४ ००	पवहारी बाबा	०.८०
हिन्दू धर्म	३.८०	वर्तमान भारत	१.२०
कवितावली	३.००	मरणोत्तर जीवन	१.००
व्यावहारिक जीवन मे वेदान्त	२.००		
परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी)	२.००		